THE FREE INDOLOGICAL COLLECTION

WWW.SANSKRITDOCUMENTS.ORG/TFIC

FAIR USE DECLARATION

This book is sourced from another online repository and provided to you at this site under the TFIC collection. It is provided under commonly held Fair Use guidelines for individual educational or research use. We believe that the book is in the public domain and public dissemination was the intent of the original repository. We applaud and support their work wholeheartedly and only provide this version of this book at this site to make it available to even more readers. We believe that cataloging plays a big part in finding valuable books and try to facilitate that, through our TFIC group efforts. In some cases, the original sources are no longer online or are very hard to access, or marked up in or provided in Indian languages, rather than the more widely used English language. TFIC tries to address these needs too. Our intent is to aid all these repositories and digitization projects and is in no way to undercut them. For more information about our mission and our fair use guidelines, please visit our website.

Note that we provide this book and others because, to the best of our knowledge, they are in the public domain, in our jurisdiction. However, before downloading and using it, you must verify that it is legal for you, in your jurisdiction, to access and use this copy of the book. Please do not download this book in error. We may not be held responsible for any copyright or other legal violations. Placing this notice in the front of every book, serves to both alert you, and to relieve us of any responsibility.

If you are the intellectual property owner of this or any other book in our collection, please email us, if you have any objections to how we present or provide this book here, or to our providing this book at all. We shall work with you immediately.

-The TFIC Team.

श्रीवीतरागाय नमः।

षड् द्रव्यकी आवश्यकता व सिद्धि

और

जैन साहित्यका महत्व।

लखनऊकी महासभामें जैन साहित्य सभाके लिये

लेखकः—

श्रीमान् पं० मथुरादासजी—बनारस, पं० अजितकुमारजी शास्त्री,
पं० बुद्धिलालजी श्रावक, पं० बनवारीलालजी स्याद्वादी,
और व्याकरणरत्न पं० सतीशचंद्रजी न्यायतीर्थ—काशी।

प्रकाशकः—

मूलचन्द किसनदास कापड़िया,
मालिक, दिगम्बर जैन पुस्तकालय—चन्दावाड़ी—सूरत।

"जैनविजय" प्रिन्टिंग प्रेस—सूरतमें मूलचन्द किसनदास कापड़ियाने मुद्रित किया।

विक्रम सं० १९८४] वीर सं० २४५३ [ई० सन् १९२७

मूल्य—एक रुपया।

निवेदन ।

हमारी भारतवर्षीय दिगंबर जैन महासभाका २६ वां वार्षिक अधिवेशन वीर सं० २४४८ (ई० सन् १९२२) में लखनऊमें श्रीमान् विद्यावारिधि दर्शनदिवाकर बेरिस्टर चंपतरायजीके सभापतित्वमें अतीव उत्साह व समारोहके साथ वसंतपंचमीके रथोत्सवके मौकेपर हुआ था तब श्रीमान् जैनधर्मभूषण धर्मदिवाकर ब्र० सीतलप्रसादजीकी प्रेरणासे, लखनऊके धर्मपरायण दि० जैन समाजने उस समय एक जैन साहित्यसभा करनेका व उसमें हमारे विद्वानोंके इस ग्रन्थमें वर्णित दो विषयोंपर इनामी लेख मंगाकर उत्तम लेखकोंको २००)का इनाम देनेकी योजना की थी जिससे षड् द्रव्यकी आवश्यकता व सिद्धि पर तीन तथा जैन साहित्यके महत्वपर तीन ऐसे ६ लेख प्राप्त हुए थे जो वहांकी सभामें पढे गये थे तथा जिसकी परीक्षा श्रीमान् विद्वद्वर्य पं० माणिकचंद्रजी न्यायाचार्य (मोरेना) द्वारा हुई थी, वे सब लेख पूज्य ब्र० सीतलप्रसादजीकी सूचनानुसार हमने हमारे "दिगंबर जैन" मासिक पत्रमें क्रमशः प्रकट कर दिये थे तथा इनको पुस्तकाकार भी प्रकट करनेकी चारों ओरसे हमें सूचनायें मिली थीं इसलिये उन लेखोंका यह संग्रहीत ग्रन्थ प्रकट किया जाता है। आशा है कि इसके प्रकाशनसे षड् द्रव्य व जैन साहित्यके विषयमें विशेष प्रकाश पड़ेगा तथा विद्यार्थियोंके लिये तो ये निबंध बहुत ही लाभदायक होंगे।

दि० जैन समाजके अद्वितीय विद्वान् श्रीमान् पं० माणिकचंद्रजी न्यायाचार्य (वर्तमानमें प्रधानाध्यापक, जंबू विद्यालय—सहारनपुर)ने इस ग्रंथपर विस्तृत प्रस्तावना भी लिख दी है (जो " दिगम्बर जैन " वर्ष १६ अंक ६ में भी प्रकट होचुकी है) जिसके लिये आपके हम बड़े आभारी हैं।

कागजकी अतीव महंगीके समयमें यह ग्रन्थ 'दिगंबर जैन' के साथ २ छपता गया था इसलिये इसमें कागज हलके लगाये गये हैं जो हमें भी खटकता है। तथा अनेक कारणोंसे इसका प्रकाशन भी अतीव देरीसे होसका है इसके लिये पाठक हमें उलाहना न देंगे ऐसी उम्मेद है।

सूरत।
वीर सं० २४५३
आषाढ़ सुदी ११

निवेदक—
मूलचन्द किसनदास कापड़िया,
प्रकाशक।

जैन साहित्यसभा-लखनऊके प्रकट हुए लेखोंपर श्रीमान् जैनतर्करत्न-
पं० माणिकचंदजी न्यायाचार्य मोरेना द्वारा लिखित-

प्रस्तावना।

प्रिय महानुभावों !

पहिले इसके कि मैं छह द्रव्यकी आवश्यकता व सिद्धि तथा जैन साहित्यकी महत्ताका दिग्दर्शन आपको कराऊं यह बतला देना उचित समझता हूं कि वन्दनीय ब्र० शीतलप्रसादजी व लखनऊ जनताका लेख लिखानेका कार्य कितना प्रशंसनीय है। भारतमें लेख लिखकर राजा सेठ या पण्डितोंमें भेजनेकी प्रथा कुछ नवीन नहीं है लेकिन यह प्रथा जितनी पहिले प्रतिष्ठाप्राप्त थी उतनी इस समय नहीं देखी जाती, चाहे तो इसमें लेखकोंका आलस्य ही कारण हो या राजा व सेठोंकी सुननेमें अप्रियता, लेकिन मेरी धारणा तो यह है कि इस विषयमें कुछ कुछ दोनों ही तरफसे त्रुटि की गई है।

कुछ ही समय पहिले राजा भोज, बादशाह अकबरकी सभामें यति हीराविजय, पं० कालिदास प्रभृति कितने ही विद्वान् प्रतिदिन शिक्षा पूर्ण नवीन२ श्लोक बनाकर लेजाते थे इसके उपलक्षमें बादशाह भी उन्हें बहुत आदरकी दृष्टिसे देखते थे तथा उनके उत्साह वर्धनार्थ बहुतसा इनाम भी देते थे। सब शिक्षित समाजको यह विदित होगा कि राजा भोजकी सभामें कितने ही विद्वान् रहते थे। एक विद्वान् प्रतिदिन राजाके यहां नवीन २ श्लोक बनाकर लाया करते थे लेकिन महाराज भोजकी सभामें इतने बुद्धिशाली आदमी थे कि वे जिस श्लोकको एकबार सुन लेते थे वह उन्हें कण्ठाथ हो जाता था, दूसरे दो दफे तीन दफे आदि सुननेमात्रसे उसकी पूर्ण धारणा कर लेते थे अतः प्रतिदिन नवीन पण्डित महाशय जो नवीन२ श्लोक बनाकर लाते थे सभाके स्थायी अन्य पण्डित उसे उसी समय राजाको सुनाकर कहते थे कि महाराज, यह प्राचीन श्लोक है नवीन नहीं ! एक दिन उन नवीन पण्डितने इस भावपूर्ण श्लोक बनाया कि महाराजके पितामहसे मेरे पिताको इनाम दिया गया एक लक्ष रुपया महाराजके खजानेमें जमा है। इस प्रकारके नवीन श्लोकको सुनकर अन्य सभी पण्डित बहुत पशोपेशमें पड़े कि इनके इस श्लोकको प्राचीन ही बताना चाहिये या नवीन। नवीन बतलानेसे तो नवीन श्लोकके बनानेके कारण इनको एक लक्ष रुपया इनामका मिल ही जायगा, और प्राचीन बतानेसे भी यह बात प्रमाणित हो जायगी कि इनका एक लक्ष रुपया राजकोषमें जमा है, इत्यादि कथाओंके सुननेसे यह विदित होता है कि पहिले श्लोक आदि लिखकर राजसभामें सुनानेका बहुत प्रचार था। अब भी कुछ न्यूनताको लिए हुए यह प्रथा सजीवित है।

अमेरिका जर्मन आदि दूर देशोंमें नवीन लेख भेजनेकी प्रथा अब भी पायी जाती है और तत्रत्य विद्वान् उन लेखोंको देखकर नौबिल प्राइज, पी० एच० डी० आदिकी पदवियोंसे अलंकित करके सन्मानित करते थे।

पूर्वमें आचार्यों बड़े २ विद्वानोंको **वादीभसिंह, पूज्यपाद** आदि पदवियां वितरित करके उनका गौरव बढ़ाया जाता था, उस पूर्व प्रथाका कुछ अनुकरण करते हुए ब्र० शीतलप्रसादजी तथा **लखनऊकी जनताने** षट् द्रव्यकी आवश्यकता व सिद्धि, तथा जैन साहित्यका महत्व इन दो विषयोंपर लेख लिखकर जैन साहित्य सभा लखनऊमें भेजनेकी सूचना "जैनमित्र" आदिमें प्रकाशित की थी।

उक्त दो निबन्धोंपर भिन्न २ स्थानीय विद्वानोंके ६ लेख आये जो कि "दिगंबर जैन" मासिक पत्रमें क्रमशः छप चुके हैं और पुस्तक रूपमें भी छपाये गये हैं। पूज्य ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी व लखनऊ जनताको उक्त दो निबन्धोंपर लेख लिखवाकर न सिर्फ उन विषयोंको उन्नत करनेका यशोलाभ हुआ है बल्कि विद्वानोंका गौरव बढ़ाकर जैन समाजमें भी अन्य समाजोंकी तरह लेख लिखनेकी प्रथा या यों कहिये कि प्राचीन प्रथाका जीर्णोद्धार किया है।

जैन समाजमें इस प्रथाका अभाव कुछ अधिक दिन पहिलेसे ज्ञात होता है नहीं तो इतने अधिक विद्वानोंकी उपस्थितिमें इन महत्वपूर्ण विषयोंपर केवल छह ही लेख न आते। इसमें हम सर्वथा लेखकोंका ही प्रमाद नहीं कहते बल्कि कुछ समाजके नेताओंका भी है। मुझे आशा है कि अबसे ऐसे शास्त्रीय निबन्धों पर यदि समाजकी दृष्टि रहेगी तो पुनः लेख लिखाये जानेपर ६की संख्यासे कहीं बहुत अधिक संख्यामें विद्वानोंके लेख आसकेंगे और उपाधि आदि देनेकी पूर्व प्रथाका भी समाजने यदि अनुकरण किया तो इस कार्यका बहुत महत्व हो जायगा और उस समय न सिर्फ जैन विद्वान ही बल्कि निष्पक्षपाती अन्य जातीय विद्वान् भी इन विषयोंपर निबन्ध लिखेंगे और इस तरह जैन धर्मका एक सुलभ रीतिसे दूर २ प्रदेशोंमें प्रचार हो जायगा, हमारी समझमें इस कार्यका पूर्ण प्रशंसालाभ ब्रह्मचारी शीतलप्रशादजी व लखनऊकी जैन जनताको है। आशा है कि अगाड़ी भी इस प्रथाका अनुकरण किया जायगा।

* * *

सज्जनो! **षट्द्रव्यकी आवश्यकताके** विषयमें तीन लेख समुपलब्ध हुए हैं और उन लेखोंसे पूर्णतः यह बात स्पष्ट हो गई है कि द्रव्य छह ही हैं न सात और न पांच, द्रव्यकी संख्या ६ ही है। इस विषयमें विशेष कुछ कहना नहीं है क्योंकि अन्य मत कल्पित द्रव्य व पदार्थोंकी संख्या इन्हीं ६में अन्तर्भूत हो जाती है। यहां द्रव्य पदार्थ

इनका पृथक् २ उल्लेख इसलिए किया है कि वैशेषिक द्रव्यकी संख्या ९ और पदार्थकी संख्या ७ मानता है। पदार्थ इस शब्दका तात्पर्य उन्होंने इस प्रकार माना है—पदस्य अर्थः पदार्थः। यहां षष्टीका अर्थ निरूपित है। ऋ धातुका अर्थ ज्ञान और थन् प्रत्ययका अर्थ विषयत्व है। इस प्रकार पद निरूपित ज्ञान विषयत्व ही पदार्थका तात्पर्य माना है। यहां जो ऐसी शंका करते हैं कि पदार्थका अर्थ जब पद निरूपित ज्ञान विषयत्व है तब ही खर विषाण भी पदार्थ कोटिमें आना चाहिये क्योंकि यह निरूपित ज्ञानविषयता तो इसकी भी होती है। इसका समाधान वे इस प्रकार करते हैं। हां खरविषाण भी पदार्थ है लेकिन वह अत्यन्ताभाव पदार्थमें सम्मिलित है। अस्तु, यहां इस परवाहकी आवश्यकता नहीं है।

जिस प्रकार द्रव्यकी संख्या ९से अधिक सात नहीं हो सकती उसी प्रकार ९से कम ५ भी नहीं हो सकती है। द्रव्यकी जीव, अजीव रूप दोकी संख्या जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, कालका सूक्ष्म रूपान्तर है क्योंकि जीवसे भिन्न पुद्गलादि ५ का अजीवमें अन्तर्भाव है।

जीव व पुद्गलकी सत्ता हमें प्रत्यक्षतः विदित हो रही है, बाकीकी ४ द्रव्य यानी धर्म, अधर्म, आकाश, कालकी सत्ताका अवधारण अनुमानादि प्रमाणोंसे होता है। ६ छहों द्रव्योंका कार्य हम अपने शरीरमें भलीभांति देखते हैं।

जीवका ज्ञानगुण तथा पुद्गलका रूपादि सजीव शरीरमें दिखलाई देता ही है। धर्म द्रव्यका जीव पुद्गलोंके गमन होनेमें सहकारी रूप जो कार्य है वह रक्तादिके गमनमें सहकारी होनेसे अच्छी तरह प्रमाणित होता है एवं अधर्म द्रव्यकी जो उक्त दो द्रव्योंके स्थिर होनेमें सहकारिता है वह भी शरीरमें पायी ही जाती है क्योंकि सजीव शरीरमें रक्तादिका निरन्तर चलते रहना जैसे उपयुक्त है उसी प्रकार शरीरके कुछ ऐसे अवयव भी हैं जो कि शरीरमें स्थिर ही रहते हैं और उनके चलित होनेसे आदमीकी मृत्यु हो जाती है अतः अधर्म द्रव्यका कार्य भी शरीरमें बराबर देखा जाता है। आकाशका अवगाह देना जो कार्य है वह भी शरीरमें सुस्पष्ट ही है, कांटे, तिनके, कांच, खानेपीने आदिकी कितनी ही चीज हैं जिनको कि शरीर अवगाह देता है। कालका कार्य वर्तना भी आप अच्छी तरह शरीरमें पावेंगे क्योंकि भोजनादिकी वर्तना या परिणमन निरन्तर शरीरमें होता ही रहता है, इस प्रकार छहों द्रव्योंका कार्य शरीरके अन्दर देखनेमें आता है।

साहित्यके विषयमें यही कहना है कि सर्वतः श्रेष्ठ साहित्य वही है जो आत्माको अन्तमें वैराग्यकी तरफ उन्मुख करे। पहिले जमानेमें यति, साधु मंत्रोंसे स्तुति करते थे। उन मंत्रोंमें जो शक्ति है वह संस्कृत साहित्यमें नहीं है। मंत्रका शुद्ध उच्चारण

करना बहुत कठिन है। ह्रस्व उदात्त अनुदात्त आदि सब प्रकारका ख्याल करके उच्चारित जो मंत्र है वही अपना कार्य पूर्णतः सिद्ध करता है क्योंकि "नहि मंत्रे क्षरं न्यूनो निहन्ति विषवेदनाम्" मंत्रके शुद्ध उच्चारण न करनेसे न केवल आदमी अपने साध्यसे भ्रष्ट ही होता है किंतु अपना अनिष्ट भी कर लेता है।

इस प्रकार मन्त्रके उच्चारण तथा साधनाकी कृपतासे बचनेके कारण संस्कृत साहित्यका प्रचार हुआ। संस्कृत साहित्यमें भी भांति २ की असुविधायें देखकर साधारण जनताके आनन्दार्थ **हिन्दी साहित्य**का आरम्भ हुआ। जिन मन्त्रोंको शुद्धाशुद्धका विचार रखते हुए हम केवल एक घंटे बोल सकते हैं। यदि उसके स्थानमें संस्कृतकी कोई गद्य या पद्य हो तो हम ३ घंटे बोलकर हम थक जाते हैं उतनी ही हिन्दीकी गद्य या पद्य हम बराबर ६ घंटे बोल सकते हैं। गाना तो और भी अधिक समय तक गा सकते हैं। आप देखेंगे कि हिन्दी गायक बराबर आठ २ दश २ घंटे एक जगह बैठकर अच्छी तरह गा सकते हैं। यदि गायकसे संस्कृतके बारेमें कहा जाय कि तुम ४ घंटे बराबर बैठकर गाओ तो वह किसी हालतमें नहीं गा सकता क्योंकि हिन्दीकी अपेक्षा संस्कृतका उच्चारण बहुत परिश्रम युक्त है और मन्त्रका उच्चारण उससे भी बहुत कुछ परिश्रमपूर्ण है।

इससे विदित होता है कि मंत्रके साहित्यमें अड़चन देखकर ही संस्कृत साहित्य और जो स्व स्वल्पशक्तिके कारण संस्कृत साहित्यसे लाभ नहीं उठा सकते उनके लिए हिंदी साहित्यका निर्माण किया गया है।

बहुतसे महाशय काव्यके ग्रन्थोंको ही साहित्यकोटिमें परिगणित करते हैं लेकिन यह उनकी भूल है। बहुतसे सिद्धांत न्यायके ग्रंथ भी पूर्णतः साहित्यकी उन्नतिके परिदर्शक हैं। साहित्यका कार्य मनोरञ्जन करना है और यह मैं पहिले ही कह चुका हूं कि श्रेष्ठ साहित्य ग्रंथ वही कहा जा सकता है जो संसारकी अवस्थाका दर्शन कराकर अंतमें मोक्षके लिए आत्माके परिणामोंको ऋजु करे। साहित्य आत्माका एक रस है यानी श्रेष्ठ साहित्यको पाकर आत्मा अपने भूले हुए स्वरूपको पुनः प्राप्त कर लेती है। **सिद्धांत**का ग्रन्थ गोमट्टसार साहित्यसे खाली नहीं है उसी प्रकार **न्याय**का ग्रन्थ अष्टसहस्री भी साहित्योन्नत ग्रंथोंमें एक प्रधान ग्रंथ है अष्टसहस्री पढ़े हुए महाशय इस बातको भली भांति जानते होंगे कि अष्टसहस्रीके कर्ता महोदयने ३६३ मतोंका किस खूबीसे खण्डन किया है। अष्टसहस्री पढ़कर जीव अपनी आत्माका स्वरूप भली भांति जान लेता है जो कि साहित्यका आनय कार्य है। अष्टसहस्रीके कर्ताने स्वयं लिखा है—

श्रोतव्याष्टसहस्री श्रुतैः किमन्यैः सहस्रसंख्यानैः।
विज्ञायते यया एव स्वसमयपरसमयसद्भावः॥

अर्थात् अष्टमी सहस्त्रीके पढ़ लेनेपर अन्य सेकड़ों ग्रंथोंके पढ़नेसे क्या लाभ है यानी कुछ भी लाभ नहीं है इसीके श्रवणसे स्व तथा पर समय (शास्त्र) अच्छी तरह ज्ञात हो जाता है। इसी प्रकार स्वयंभूस्तोत्र, समयसार आदि ग्रंथ भी साहित्योन्नतिके अच्छे दर्शक हैं। समयसारके कर्त्ताने आत्माकी अद्वैत सिद्धिमें जो आत्मात्मनैवात्मनात्मनेऽऽत्मनरात्मनि चेतयते—यह षकारक लगाये हैं। यह भी उच्चकोटिका साहित्य ही है क्योंकि यही आत्माके प्रत्यक्ष करनेका उपाय है।

तुलसीदासजी कृत रामायण जो कि साहित्योन्नतिका एक निदर्शक कहा जाता है उससे आप टोडरमलजी कृत गोमट्टसारकी हिन्दी टीकाका मिलान करें तो आपको भलीभांति विदित हो जायगा कि यह कहीं उससे बढ़कर साहित्योन्नतिका उदाहरण है। साहित्य लालित्यके साथ ही आप इसके अंदर एक और विशेषता पावेंगे वह यह कि कितने कठिन प्रमेयको पंडितजीने प्रसादगुणयुक्त हिंदी गद्यमें सरल करदिया है।

महापुराण, पार्श्वाभ्युदय, सप्तभङ्गतरङ्गिणी आदि कितने ही अन्य ग्रंथ भी साहित्यकी उच्चताको लिए हुए सिद्धांत न्याय विषयके अच्छे प्रतिपादक हैं।

जैन साहित्यके उन्नत होनेमें दूसरा यह भी कारण है कि जितनी वर्ण संख्या दूसरोंके यहां मानी गयी है वह परिपूर्ण नहीं। पाणिनीयने ४३ इङ्गलिश भाषामें २६ किन्हीने ३२ इत्यादि वर्ण संख्या मानी है। जैनेन्द्र व्याकरणमें ४६ वर्ण माने गये हैं। द्वादशाङ्गमें तो ६४ वर्ण माने गये हैं इससे भी जैन साहित्यकी पूर्णता ज्ञात होती है।

किसीभी बातको वक्रोक्ति आदिके रूपमें कहनेसे ही उसकी शोभा होजाती है क्योंकि "वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्" उदाहरणके लिए लीजिए कि स्त्रीको अपने पतिसे यह कहना था कि आप यहांसे चले जावेंगे तो मैं मर जाऊंगी इस बातको उसने वक्रोक्तिके द्वारा कहकर सरस पद्य बना दिया—

गच्छ गच्छ सिचेरकान्त पन्थानः सन्तु ते शिवाः।
ममापि जन्म तत्रैव भूयाद्यत्र गतो भवान्॥

अर्थात् हे कान्त! यदि तुम जाते हो तो जाओ, तुम्हारे कल्याणकारी मार्ग हों लेकिन यह अवश्य ज्ञात रहे कि मेरा जन्म भी वहीं होगा जहां कि आप उपस्थित होंगे। यह एक साधारण बात ही वक्रोक्तिसे कहनेपर लोगोंकी प्रीतिके लिए होजाती है। हम साधारण रीतिसे किसीसे पूछेंगे कि आप कहांसे आये हैं और कहां जावेंगे तो इस तरहका हमारा पूछना सीधी भाषामें उतना अच्छा न मालूम होगा जितना कि साहित्यसे अलङ्कृत करने पर ज्ञात होगा यानी वह कोनसे मनुष्य हैं जिनकी कि मुखकमल श्री आपचन्द्रोदयमके यहां

आनेसे फीकी पड़ गई है और वे कौनसे पुण्यशाली हैं जो सूर्योदयसे चक्रवाकके समान आपके आगमनसे अपनेको कृतार्थ समझेंगे इत्यादि ।

उक्त बातोंसे यह भलीभांति विदीत होता है कि जिससे मनोरञ्जन हो वही साहित्य कहलाता है। पूर्वमें न्याय साहित्य आदिके ग्रन्थ बनाकर पहिले विद्वद्गोष्ठीमें पास करालिये जाते थे और पुनः उसे पब्लिकके प्रचारार्थ देते थे। ऐसा करनेसे सभी ग्रन्थ जो कि पब्लिकके प्रचारमें आते थे अपनी महत्ता और गुरुतासे प्रतिष्ठित रहते थे ।

पं० श्रीहर्ष नैषधचारित्रको बनाकर प्रथम कवि मम्मठके पास ले गये थे। पाणनीय अष्टाध्यायीको बनाकर विश्वामित्र ऋषिके पास ले गये थे। उन्होंने जब पूछा कि विश्वामित्र शब्दकी सिद्धि किस प्रकारकी है तब उन्होंने कहा कि महाराज इसके लिए "मित्रे चर्षौ" यह स्वतन्त्र सूत्र बनाया है। यहां सूत्रमें ऋषि शब्द देनेसे माणवक वाची शब्द विश्वामित्र ही रह जाता है अतः यह इसी नामके लिए खास सूत्र है इसपर मुनि बहुत प्रसन्न हुए और इस प्रकार व्याकरणकी परिपूर्णता जानकर उस व्याकरणको पास कर दिया ।

पूर्व मैं कह चुका हूं कि पब्लिक प्रचारार्थ जो ग्रन्थ दिये जाते थे वे पूर्वतः ही अच्छी तरह परीक्षित करलिए जाते थे और ऐसा करनेसे वे पास ग्रन्थ आदमीके नैतिक बल-चारित्र आदिके विषयमें सुशिक्षा देनेके लिए होते थे। आजकल कितनी ही ऐसी भद्दी पुस्तकें हम लोगोंकी दृष्टिगत होती हैं जो बच्चों युवकादिकोंके चारित्रपर बहुत बुरा प्रभाव डालती है अतः हम इस प्रकारकी पुस्तकोंको कभी श्रेष्ठ साहित्यकी गणनामें नहीं गिन सकते क्योंकि श्रेष्ठ साहित्यका जो आत्माको शान्ति मार्ग लाना लक्षण है वह उनमें नहीं घटता ।

इन सब बातोंसे विदित होता है कि **साहित्य एक आत्माका रस है** जिसके पढ़नेसे आत्मा अपने स्वाभाविक गुणोंकी तरफ उन्मुख हो वही श्रेष्ठ साहित्य है। साहित्य ग्रंथोंमें भी जहां ९ रसोंका वर्णन किया है वहां भी सर्वतः उपरि शान्तिरसको ही बताया है क्योंकि पथिक जिस तरह सब जगह घूम आता है लेकिन अन्तमें अपने घरपर ही आजाता है उसी प्रकार साहित्य भी आत्माको जगह २ घुमाकर अन्तमें आत्माका स्वरूप जो शान्ति है उसकी ही तरफ उन्मुख करता है । आत्मा औपाधिक वृत्तिका आचरण बहुत समय तक नहीं कर सकता लेकिन स्वाभाविक जो वृत्ति है उसके हमेंशा धारण करे रखनेमें भी उसे किसी प्रकारकी असुविधा नहीं होती है।

उदाहरणके लिए लीजिए कि मनुष्यके शरीरको अपने अवयव जैसे बल हस्तादिका वजन कुछ वजन रूपसे प्रतीत नहीं होता और यदि उसके सिरपर १० सेरकी ही एक गठडी रख दी जाय तो वही उसे भाररूप मालूम पडने लगती है। दूसरी तरह

हम इस प्रकार भी समझ सकते हैं कि बच्चेके शरीरमें बिजलीके अधिक होनेसे उसकी मुट्ठी बंधी रहती है और बंधी रखनेमें अवश्य ताकत लगानी पडती है लेकिन वृद्धावस्थामें जब कि बिजली कम होजाती है उस समय वृद्धको मुट्ठी बांधकर रखनेमें प्रयत्न करना पड़ता है और खुली रखनेमें किसी प्रकारका कष्ट नहीं होता वह दूसरी बात है जो कि वृद्धावस्थामें ठण्ड आदि लगजानेसे शरीरके अवयव सिकुड जाते हैं।

मित्रो ! इससे भली प्रकार हमारी समझमें आजाता है कि शान्त रहना आत्माका स्वभाव है और क्रोधादि करना ये औपाधिक हैं।

साहित्यमें रसोंका वर्णन करते हुए प्रथम शृङ्गार रसका वर्णन किया है। पतिपत्नी-की रतिके समय जो परस्परकी वृत्ति है उसे श्रृङ्गाररस कहते हैं।

इसके अनन्तर वीर रसको बताया है "उत्साहात्मा भवेद्वीरः" जो आत्मा वीर-रसापन्न होती है वह उत्साहयुक्त होती है। पुनः शोकसे उत्पन्न होनेवाले करुणारसको बताया है तदनन्तर वर्णित हास्य रसकी उत्पत्ति चेष्टादिके विकृत करनेसे होती है। असंभव सदृश वस्तुके देखनेसे या सुननेसे अद्भुत रस उत्पन्न होता है। भयानक वस्तुओंके देखनेसे भयानक रसकी उत्पत्ति होती है तथा क्रोधादि कारणोंके आजानेसे रौद्र और जुगुप्साके कारणोंके देखनेसे बीभत्स रसका उत्पाद होता है। अन्तमें सम्यग्ज्ञानसे है उत्पत्ति जिसकी ऐसे शान्तिरसकी उत्पत्ति होती है।

इस प्रकार आत्माको जो आकुलता रहित करके शान्तिके सामानमें बैठाते हैं ऐसे ही साहित्य ग्रन्थ प्रशंसनीय और गणनीय हैं ऐसे जैन साहित्य ग्रन्थोंकी संख्या कितनी है यद्यपि यह अभीतक किसीसे विदित नहीं है तथापि ऐसा विश्वास अवश्य है कि उनकी संख्या बहुत बड़ी है और उनका महत्व बहुत चढ़ा बढ़ा है।

मन्त्ररूप जैन साहित्य भी अपनी शानीमें एक ही है। भक्तामरके मन्त्रोंका आराधन करके और प्राप्त करके अब भी मनुष्य बहुत विचित्र २ कार्य करते दिखलाई देते हैं स्वयं श्रीमानतुंगाचार्य जिनको कि ४८ कोठोंके अन्दर बन्दकर दिया गया था मन्त्रोंके प्रभावसे ताले अपने आप खुलगये और मुनिमहाराज बाहर आगये। अब भी मन्त्ररूप साहित्यमें जो शक्ति है वह संस्कृत साहित्यमें नहीं और जो संस्कृत साहित्यमें शक्ति है वह हिन्दी साहित्यमें नहीं है। जैन संस्कृत साहित्य भी उसी प्रकार समुन्नत है जैसे कि जैन मन्त्र साहित्य कुछ ही समय पहिले। बादशाह अकबर हीरविजय यतिको अपनी शिक्षाके लिए अपने पास रखते थे और उनसे हरएक कार्यमें सम्मति लेते थे। बादशाह अकबरकी सभा ९ खण्डोंमें विभक्त थी, श्रीहरिविजय यति पहिली श्रेणीमें थे तथा और भी तीन जैन विद्वान् ५वीं श्रेणीमें थे। महाराज अकबर जैन सिद्धा-

न्तके नियमोंसे बहुत ही प्रधान थे। कारण यह था कि वे जैन सिद्धान्तके नियम सबकी हितसाधनाके लिए थे अतएव बहुत गौरवान्वित थे। सच तो बात यह है कि साहित्यके प्रणेता जिस प्रकारके गुणों वा अवगुणोंके ढांचेमें ढले होंगे उनके द्वारा प्रणीत साहित्य ग्रन्थ उतनी महत्ताको रक्खेंगे।

जैन हिन्दी साहित्यके विषयमें भी यदि आप विचार करेंगे तो वह भी आपको पूर्ण मिलेगा "मुनि मनसम उज्वल नीर" इत्यादि प्रतीयालंकारका कितना ज्वलन्त उदाहरण है तथा पंडित टोडरमलजी आदि द्वारा रचित गोमट्टसारादिकी टीकायें तथा अन्य स्वतन्त्र ग्रन्थ भी जैन हिन्दी साहित्यकी समुन्नत अवस्थाके परिदर्शक हैं।

इस प्रकार षट्द्रव्यकी आवश्यक्ता व सिद्धि तथा जैन साहित्यके महत्वके विषयमें जो कुछ आप महानुभावोंकी सेवामें निवेदन किया गया है उन्ही विषयों पर अन्य कितनी ही युक्तियों द्वारा अगाड़ी गवेषणापूर्ण विचार किया गया है। पूज्य ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी व लखनऊकी जनताके जैनमित्रमें लेखोंके लिए नोटिस निकालनेपर ३ लेख षट्द्रव्यकी आवश्यकता व सिद्धिके विषयमें तथा तीन लेख जैन साहित्यके महत्वके विषयमें आये।

मैं ब्रह्मचारीजी तथा लखनऊ जनताके इस प्रेमविशेषका विशेष आभारी हूँ जो कि योग्यता न होने पर भी आगत लेखोंके परीक्षणका कार्य मुझे दिया। समाजमें अन्य उद्भट विद्वानोंके रहते हुए भी जो उक्त महाशयोंने यह कार्य मुझे दिया है इसमें अवश्य ही उनका प्रेम विशेष कारण है।

जिन महाशयोंके लेख आये हैं उनके नम्बर तथा लेखपरिचय निम्न प्रकार है।

षट्द्रव्यकी आवश्यकता व सिद्धिके विषयमें प्रथम लेख पं० **मथुरादास जैन-मोरेना**का आया। यह लेख संस्कृत साहित्य और दार्शनिक पद्धतिसे अच्छा है किन्तु लौकिक युक्तियोंसे कार्य नहीं लिया गया है। प्रकरणान्तर भी कुछ २ होगया है दार्शनिक पद्धतिसे लिखनेके कारण ५७ नम्बर उपयुक्त ज्ञात होते हैं। इनको जैन साहित्य सभासे ५०) पचास रुपया प्रथम नम्बरका पारितोषक भी मिला।

इसी विषयमें द्वितीय लेख **पं० अजितकुमारजी**का आया। इन्होंने षट्द्रव्यकी सिद्धिमें लौकिक युक्तियोंका समावेश कम किया है तथा आगमको भी पुष्ट करते हुए आगम गम्यत्वेन प्रामाण्य देना उचित था तथापि रूक्ष विषय होनेसे आपका आद्यश्रम प्रशंसनीय है। इनको लेखमें ५९ नम्बर मिले तथा सभाकी तरफसे दूसरे नम्बरका पारितोषक ३०) तीस रुपया दिया गया।

तृतीय लेख इसी विषयमें पण्डित बुद्धिलालजीका आया। यह लेख केवल हिन्दीकी सिफ्तसे अच्छा है परन्तु संस्कृत शास्त्रोंके तथा तदनुसार लौकिक युक्तियोंके अवलम्बनसे लिखा जाता तो विशेष प्रशंसावह होता। कुछ हिन्दीकी अशुद्धियां भी हैं तथापि प्रमेय कुछ नव्यताकी वायुसे संस्कृत किया गया है परन्तु पूर्ण अलङ्कृत नहीं होसका। इनको ४६ नम्बर दिये तथा सभाकी तरफसे तृतीय पारितोषक २०) बीस रुपया भी दिया गया।

षड्द्रव्यकी आवश्यक्ताके विषयमें ये ही सिर्फ तीन लेख आये थे।

द्वितीय विषय जैन साहित्यकी महत्ताके ऊपर प्रथम लेख पं० बनवारीलालजी स्याद्वादीका आया। इनका लेख उत्तम है। क्वचित् अशुद्धियां भी हैं किन्तु श्रमसे लिखा गया है। जैन काव्योंके महत्वपर अच्छा प्रकाश डाला है फिर भी अन्त महत्व तक दृष्टि नहीं पहुंची। श्रम विशेष प्रशंसनीय है। इनको ७० नम्बर मिले तथा ५०) पचास रुपया सभाकी तरफसे पारितोषक भी मिला।

उक्त विषयपर द्वितीय लेख पं० सतीशचंद्रजी काशीका आया। आपका प्रयत्न अच्छा है किन्तु वैष्णव नियमोंपर विशेष लक्ष रक्खा है। जैन काव्योंमें दूसरे अन्यमतीय काव्योंसे महत्वद्योतक बातें अनेक भरी पड़ी हैं जिनका कि सम्बन्ध लौकिक पूर्ण सुख और निःश्रेयसके अतीन्द्रिय सुखसे है उन बातोंका जिक्र नहीं आया है फिर भी हिन्दी लेखन-दृष्टिसे तथा शब्दालङ्कार महिमासे यह लेख जनताको आदरणीय है। इनको लब्धाङ्क ६२ दिये गये तथा सभाकी तरफसे दूसरे नम्बरका इनाम ३०) रुपया भी दिया गया।

तीसरा लेख इसी विषय पर पं० अजितकुमारजीका आया। आपका लेख उचित है। जैनत्वकी भी छाया है। अन्त्य महत्व तक नहीं पहुंचे जो साहित्यका चरम फल है। नम्बर ५८ दिये गये तथा तीसरे नम्बरका इनाम २०) बीस रुपया दिया गया। ये तीन लेख जैन साहित्यके महत्व विषयपर आये। आशा है कि समाज इन लेखोंसे लाभ उठानेकी चेष्टा करेगा।

अन्तमें समाज नेताओं, विद्वानोंसे नम्र निवेदन है कि इस कार्यमें यदि किसी प्रकारकी त्रुटि रह गई हो तो क्षमा करें तथा प्रार्थना है कि इसी प्रकार दोनों तरफ यानी समाज नेता तथा विद्वानोंकी तरफसे प्रयत्न किया जायगा तो चन्द दिनों बाद ही आप जैन सिद्धान्त वृक्षकी प्रत्येक दिशामें छाया पड़ी हुई देखेंगे। विज्ञेष्वलमिति।

निवेदक—माणिकचन्द्र कोंदेय—मोरेना।

षट् द्रव्यकी आवश्यकता और सिद्धि।

(जैन साहित्य सभा लखनऊका लेख नं० १)

(लेखक-पं० मथुरादासजी बेरनी (एटा) निवासी, विद्यार्थी, गोपाल जैनसिद्धांत विद्यालय-मोरेना)

श्री वीरवर[1] वर[2] वीर[3] हो प्रभु तुम सुधीधर धीर हो
जगतापसे परितप्तको तुम ही सुशीतल नीर हो।
सब सुखद सुखदाधार हो सब जगत प्राणाधार हो
विनवूं विना तुम अन्य नहिं मम भक्तिका आधार हो॥

सभ्य महोदय!

इस असार संसारमें जिधर भी दृष्टिपात करते हैं सर्वत्र सुखेच्छुकोंकी ही संख्या दिखलाई देती है। सभी अपने अपने सुखोंके कारणकलाप मिलानेमें अतीव सन्नद्ध और वद्धिद्ध दिखलाई पड़ते हैं। हम संसारका स्वरूप विचारते हैं तो वह बीभत्स ही जान पड़ता है "संसरणं संसारः" अर्थात् संसार परिवर्तन शील है यहां कोई एकसा कभी नहीं रहता, सब वस्तुयें अपने अपने स्वरूपमें परिवर्तन करती रहती हैं, समुन्नत कभी अवनति दशापन्न और अवनति दशागत कभी समुन्नत दिखलाई देती हैं, ये सब बातें सबके प्रत्यक्ष प्रतिदिन होती रहती हैं अतः ध्यान देना चाहिये कि इस परिवर्तनका क्या कारण है।

संसारका प्रत्येक प्राणी सुखोंकी इच्छासे ही इधर उधर कभी किसीके पास और कभी किसीके पास जाता है जिस तरह विषम रोगापन्न रोगीके घरवाला जब किसी व्यक्तिसे अच्छे वैद्यकी बाबत सुनता है उधर ही दोड़ता जाता है और वहांसे सफलता न प्राप्त होनेपर दूसरे वैद्यकी या औषधिकी खोजमें लग जाता है ठीक इसी तरह यह संसारी प्राणी भी कभी किसी और कभी किसी धर्मका आचरण करके सुखी होना चाहता है। यह अपने अभिलषितस्थानको जानेके लिए जब भी समुद्यत होता है तो इसे एक स्थान जानेके लिए भिन्न भिन्न मताश्रयी दार्शनिकोंसे निरूपित अलग अलग ही मार्ग दिखलाई पड़ते हैं जो कि एक दूसरेसे सर्वथा विरुद्ध हैं।

ऐसे समय सुचारु विचारक महाशय! उस जीवकी क्या दशा होगी यह आप अच्छी तरह जान सकते हैं। ऐसे व्यक्तिकी दशा हम उस व्यक्तिकी दशासे जान सके हैं

---

१ वीरोमें उत्कृष्ट, २ अंकानाम् वामतोगतिः इस नियमानुसार वरः महावीर, ३ विशेषेईते वीरः सर्वज्ञः।

जो कि किसी इच्छित स्थानको जाना चाहता है और मार्गका परिज्ञान न होनेके कारण एकत्रित मनुष्योंसे पूछता है कि अमुक स्थानको जानेके लिए कौनसा मार्ग है लेकिन समूहगत प्रत्येक व्यक्ति उसे अभिलषितस्थान जानेके लिए भिन्न भिन्न ही मार्ग बतलाता है। अब या तो वह बिचारा मनुष्य जानेका विचार ही छोड़ देगा या जावेगा भी तो सन्देहानुसरणसे अभीष्ट स्थानको नहीं पहुंचेगा।

संसारमें अलग अलग धर्मोपदेशक एक सुखके मार्गको पानेके लिए अपनी भिन्न भिन्न धर्मोपदेश रूपी टिकिट (Ticket) देकर स्वकल्पित सिद्धान्त गाड़ियोंमें बैठाकर इष्ट मार्ग प्राप्त करनेका दावा करते हैं अतः परीक्षाप्राधान्य मनुष्यका कर्तव्य है कि पहिले वह अपने जानेके मार्गकी अच्छी तरह परीक्षा करले जिससे कि अगाड़ी उसे अनिष्ट स्थान पर पहुंचकर दुःख न प्राप्त करना पड़े।

अब हमें पदार्थ विनिश्चायक उपायोंका यहां भी आश्रय लेना चाहिये। प्रत्येक पदार्थके निश्चयके लिए तीन उपायों की प्रथम ही आवश्यकता हुआ करती है—एक उद्देश, द्वितीय लक्षण निर्देश, तृतीय परीक्षा।

इस लेखमें षट् द्रव्यकी आवश्यकता और सिद्धि बतलाने तथा सिद्ध करनेके लिए पूर्ण प्रयत्न किया गया है यही इस लेखका उद्देश है। परीक्षा व लक्षण निर्देशका आगे खुलासा किया जायगा।

षट् द्रव्योंके नाम निर्देश और परीक्षाके पहिले द्रव्यका सामान्य लक्षण क्या है यह विचारना चाहिये। आचार्योंने द्रव्यका लक्षण "सद्द्रव्यलक्षणं" या "गुणपर्ययवद्द्रव्यं" ऐसा कहा है यहां कोई ऐसी शंका करे कि लक्षण तो असाधारण हुआ करता है और लक्षण द्वयके होनेसे अवश्य ही लक्ष्य द्वयकी सिद्धि होगी सो उसका यह कहना भी समुचित नहीं है क्योंकि एक ही लक्ष्यका यहां प्रकारान्तरसे लक्षण किया है।

"सद्द्रव्यलक्षणं" "गुणपर्ययवद्द्रव्यं" इन लक्षणोंका यही तात्पर्य है कि द्रव्य नित्यानित्यात्मक है। सतका लक्षण "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्" अर्थात् जिसमें उत्पाद (उत्पत्ति) व्यय (नाश) ध्रौव्य (नित्यता) ये तीनों ही रहें उसे सत कहते हैं। ध्रौव्य नित्यात्मक है और उत्पाद व्यय अनित्यात्मक है। चेतन वा अचेतन पदार्थ अपनी अपनी चेतनत्व वा अचेतनत्व जातिको न छोड़कर अंतरङ्ग बहिरङ्ग कारणोंसे जो दूसरे पदार्थके स्वरूपको प्राप्त करे उसे उत्पाद कहते हैं जैसे कि मिट्टीका घट अन्य रूप आकार हो जाता है, व्ययका अर्थ पूर्व पर्यायका चला जाना है जैसे कि घटकी उत्पत्तिमें मृत्पिण्डके आकारका अभाव है। ध्रौव्य उसे कहते हैं जो कि व्यय उत्पाद कर रहित है ध्रौव्य शब्दकी व्युत्पत्ति इस तरह की गई है कि ध्रुवति स्थिरि भवति ध्रुवः ध्रुवस्य भावः कर्म वा ध्रौव्यं,

अर्थात् जो सर्वदा स्थिति स्वभाव है उसे ध्रौव्य कहते हैं। पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यका द्रव्यसे प्रथक् भाव है और द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे अपृथक् भाव है क्योंकि द्रव्यसे अलग कहीं उत्पादादि नहीं देखे जाते। यहां एक द्रव्यमें उत्पादादिका भेद अभेद दोनो ही हैं अतः भेद अभेद परस्पर विरोधी होनेसे एक जगह नहीं रह सकते। ऐसा नहीं कहना चाहिये जैसे कि एक पदार्थमें अपने अभिधायक (वाचक)के अभिधान (कथन) की अपेक्षा अभिधेयता है और पर अभिधायकके अभिधानकी अपेक्षा अनभिधेयता है या स्वरूपकी अपेक्षा रूपता और पररूपाकारकी अपेक्षा अरूपता है उसीतरह पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा भेद और द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा अभेद समझना चाहिये। यहां थोड़ेसेमें पर्यायार्थिक नय द्रव्यार्थिक नय लेख्य होनेसे लिखता हूं।

जो सादिसामण्णं अविणाभूदं विसेषरूपेहिं।
णाणा जुत्ति बलादो दव्वत्थो सो णओ होदि॥

अर्थात्—विशेष रूपसे अविनाभावी (विशेषरूपके विना जो न हो सके) जो सामान्य स्वरूप उसे युक्तियों द्वारा ग्रहण करनेवाली नयको द्रव्यार्थिक नय कहते हैं। द्रव्यमें सामान्य विशेषय ये दो धर्म रहते हैं। विशेषको अप्रधान कर और सामान्यकी मुख्यतासे जो पदार्थका ग्रहण करता है उसे द्रव्यार्थिक तथा सामान्यकी अप्रधानता पूर्वक विशेषकी मुख्यतासे जो पदार्थ पर्यायका निरूपण करता है उसे पर्यायार्थिक नय कहते हैं। नयके भेद प्रभेदोंकी संक्षेपसे यह संदृष्टि हो सकती है—

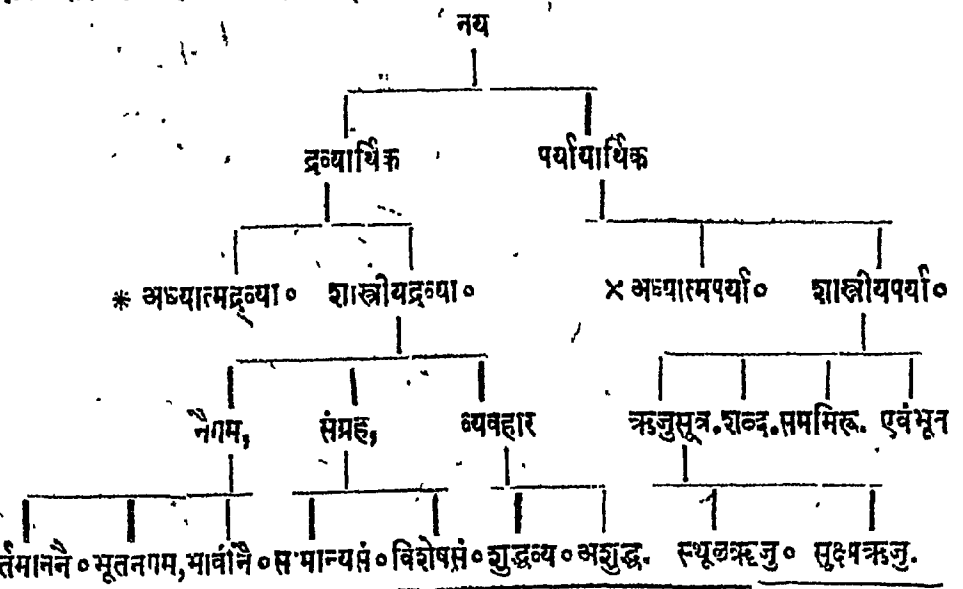

* इसके भेद—विधिनिरपेक्ष० शुद्ध, सत्ताग्राहक० शुद्ध, भेद विकल्पनिरपेक्ष० शुद्धि, कर्मोपाधिसापेक्ष० अशुद्ध, उत्पादव्ययसा० अशुद्ध, भेदकल्पनासापे० अशुद्ध, अन्वयद्र० स्वद्रव्यादिग्राह० परद्रव्यादि परमभावग्राही०

× इसके भेद—अनादि नित्यपर्या०, आदिनित्य०, अनित्य शुद्ध०, अनित्य अशुद्ध०, कर्मोपाधिनिरपेक्ष अनि. शु०, कर्मोपाधिसापेक्ष अनित्य अशुद्ध०,

उक्त कथनमें नयके संक्षेप रीतिसे भेद बताये हैं। यहि नयके दो भेद किये हैं फिर द्रव्यार्थिकके २ और पर्यायार्थिकके दो भेद किये हैं पुनः शास्त्रीय द्रव्यार्थिक नैगमादि तीन भेद किये हैं और अध्यात्म द्रव्यार्थिकके कर्मोपाधि निरपेक्षादि १० भेद किये हैं। नैगमके तीन भेद किये हैं और संग्रह तथा व्यवहारके दो दो किये हैं। शास्त्रीय पर्यायार्थिकके ऋजुसूत्रादि ४ भेद किये हैं।

ऋजुसूत्रके दो भेद किये हैं तथा अध्यात्म पर्यायार्थिक ६ अनादि नित्य पर्यायादि भेद किये हैं, यद्यपि नयके लिखनेका यहां विशेष प्रयोजन ही था लेकिन प्रसंगवश कुछ लिखना पड़ा, अस्तु।

पहले द्रव्यका लक्षण कहा जा चुका है यहां यह बतलाते हैं कि "द्रव्य लक्षणं"का जो अर्थ है वही अर्थ शब्दान्तरों द्वारा "गुणपर्ययवद्द्रव्यम्"में कहा है यानी हरएक पदार्थमें कोई न कोई शक्ति अवश्य होती है जैसे कि आत्मामें ज्ञान शक्ति, धर्ममें गतिहेतुत्व, अधर्ममें स्थितिहेतुत्व, आकाशमें अवगाहहेतुत्व, कालमें वर्तनाहेतुत्व, ये शक्तियां हैं। शक्ति गुणका पर्यायवाची शब्द है। द्रव्यमें अनन्त गुण होते हैं। यहां पर कोई ऐसी शंका करे कि द्रव्यमें रहनेवाला अनन्तगुणत्व वह द्रव्यसे अलग भी दिखलाई देना चाहिये। आधेय रूप द्वारा निरूपित होनेसे, कुंडमें दहीके समान, जैसे कि कुंडमें दही आधेयरूपसे अनुगत है अतः कुंडसे प्रथक् भी पाया जासक्ता है। द्रव्यमें अनन्त गुणत्व भी आधेयरूपसे निरूपित है अतः द्रव्यसे प्रथक् पाया जाना चाहिये।

यह शंका ठीक नहीं है क्योंकि यहां जो आधार आधेयता है उसका अर्थ युत सिद्ध पदार्थकी आधार आधेयताके समान नहीं है।

युत सिद्धका स्वरूप लक्षण यही है कि जो प्रथक् प्रथक् स्वाश्रय सिद्ध हों, जैसे कुंडमें दही, यहां कुंड और दहीमें जो आधार आधेयता है वह युतसिद्ध पदार्थोंकी आधार आधेयता कही जायगी क्योंकि कुंड अपने अवयवों (अंशों) में रहता है और दही अपने दहीके अवयवोंमें रहता है। युतसिद्ध पदार्थोंमें चार अर्थोंकी प्रतीति होती। १ कुंड २ कुंडावयव ३ दही ४ दहीके अवयव। अयुत सिद्ध पदार्थोंमें जो आधार आधेयता है वहां तीन ही पदार्थ पाये जाते हैं जैसे आत्मामें ज्ञान गुण अयुत सिद्ध है। यहां १ आत्मा २ आत्मावयव ३ ज्ञान गुण अयुत सिद्धका लक्षण ऐसा है कि "ययोः द्वयोर्मध्ये एकोऽपराश्रितेन तिष्ठति तौ अयुतसिद्धौ" जिन दो पदार्थोंके बीचमें एक अपराश्रित होता वे दोनों आपसमें, अयुतसिद्ध कहलाते हैं जब कि अयुतसिद्ध पदार्थोंकी आधार आधेयता युतसिद्ध पदार्थोंकी आधार आधेयतासे सर्वथा भिन्न ही है तो युतसिद्धकी आधार आधेयतामें रहनेवाला गुण या दोष अयुतसिद्धकी आधार आधेयतामें कैसे आसकता है।

जैसे आत्मामें ज्ञानशक्ति है वह आत्मासे प्रथक् नहीं पाई जाती. या उस ज्ञानशक्तिसे आत्मा अलग नहीं पाई जा सकती।

श्री नेमिचन्द्राचार्यने सूक्ष्मनिगोदिया लब्ध्य पर्याप्तक जीवसे सबसे जघन्यज्ञानको पर्याय ज्ञान नामसे कहा है। यहां पर्याय समास, अक्षर, अक्षरसमास आदिमें जैसे उनका (पर्याय समासादिका) आवरण उन्हींके ऊपर पड़ता है. यानी पर्याय समास ज्ञानावरण पर्याय समास श्रुतज्ञानके ऊपर पड़ता है। अक्षर ज्ञानावरण अक्षर श्रुतज्ञानके ऊपर, अक्षर समास ज्ञानावरण अक्षर समास श्रुतज्ञानके ऊपर पड़ता है उसी तरह पर्याय ज्ञानका आवरण भी पर्याय श्रुतज्ञानके ऊपर पड़ना चाहिये, लेकिन ऐसा न होकर पर्यायज्ञान, पर्याय समासज्ञान इन दोनोंका आवरण पर्याय समास श्रुतज्ञानके ऊपर ही पड़ता है इसका कारण यही है कि ज्ञानकी सबसे कम अवस्था है और उसपर आवरण पड़नेसे आत्माके ज्ञानवान-पनेका ज्ञान कैसे हो सकेगा यही बात श्री जीवकाण्डमें प्रतिपादित है।

णवरि विसेसं जाणे सुहुम जहण्णं तु पज्जयं णाणं।
पज्जाया वरणं पुण तदणंतर णाण भेदेहिं॥

अर्थ-सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तकके सर्व जघन्य ज्ञानको पर्यायज्ञान कहते हैं और पर्याय ज्ञानावरण पर्यायके बादमें कहे गये पर्याय समास ज्ञानके ऊपर पड़ता है और वह पर्याय ज्ञान इस गाथाके अनुसार—

सुहमणि गोद अपज्जत यस्स जादस्य पढम समयम्हि।
हवदि हुसव्व जहण्णं णिच्चघ्घाणं णिरावरणम्॥

यानी—सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जो कि उत्पन्न होनेके प्रथम समयमें ही है तब उसके ज्ञानको पर्याय ज्ञान कहते हैं वह आवरण रहित तथा नित्य ही प्रकाशमान रहता है इत्यादि इत्यादि।

यह दृष्टान्त स्वरूप जो आत्मा उसके ज्ञान गुणकी अप्रथक् सिद्धिमें प्रसंगवश कहा गया है।

अब दृष्टान्त स्वरूप आत्मामें ज्ञान जैसे अभिन्नत्वेन रहता है उसी प्रकार अनन्त-गुणत्व भी द्रव्यसे अभिन्न जानना चाहिये।

उक्त कथनसे यह बात सिद्ध की गई कि जो अर्थ सद्द्रव्य लक्षणका है वही गुणपर्ययवद्द्रव्यका है।

द्रव्यमें दो गुण रहते हैं। एक सामान्य एक विशेष। सामान्य गुण उसे कहते हैं जो बहुतसी द्रव्योंमें एकसा पाया जाय जैसे सत्व अगुरुलघुत्वादि जो एक ही द्रव्यमें रहे

दूसरेके लक्षणोंका निरूपण किये हम उनका दोषादि नहीं बतला सक्ते अतः उनके द्रव्यकी अप्रमाणता विन सिद्ध किये हम अपनी ही द्रव्यको सर्वथा प्रमाणता है यह भी नहीं कह सक्ते, तथा ।

ऋते तमांसि द्युमणिर्मणिर्वा विना न काचैः स्वगुणं व्यनक्ति ।

अन्धकारके विना सूर्य और काचके विना मणि अपने गुणको प्रगट नहीं करती है उसी प्रकार विना अलत (झूठे) द्रव्य लक्षणके हमारा सम्यक् द्रव्यलक्षण भी अपने विशद लक्षणकी महत्ताद्योतक नहीं । इसी आशयका आश्रय लेकर परिकल्पित कुछ द्रव्योंका लक्षण और साथ ही उनकी अप्रमाणता भी बताते हैं ।

'क्रियावत् गुणवत् समवायि कारणं द्रव्यलक्षणं' यानी क्रिया और गुण युक्त जो समवायी कारण हो उसे द्रव्य कहते हैं। यह द्रव्यका लक्षण वैशेषिक, योग मानते हैं किन्तु इनका यह मानना भी ठीक नहीं है ।

क्योंकि वैशेषिक लोगोंने लक्षणका लक्षण असाधारण धर्म वचनं, असाधारण (विशेष) धर्मका जो कहना उसे लक्षण कहते हैं ऐसा माना है ।

और इस लक्षणके लक्षणानुसार उक्त द्रव्यका लक्षण घटित नहीं होता क्योंकि ये द्रव्यका लक्षण पृथिव्यादिकों नौ ही में जाता है अतः असाधारण नहीं कहा जा सकता । असाधारण एक ही जगह रहता है यदि असाधारण बहुत जगह रह निकलें तो असाधारणत्व की हानि होती है तथा ऐसे असाधारण और साधारणमें कुछ भेद भी नहीं कहा जासकता जब कि असाधारणत्वका नाश होनेसे असाधारण कुछ चीज ही सिद्ध नहीं होगा तो 'यह गो है सींगवाली होनेसे' ऐसे साधारण ही हेतु दिये जायंगे और इस तरह साधारण हेतु देनेसे अतिव्याप्ति दोष आवेगा अतः किसी भी पदार्थकी व्यवस्था नहीं बनेगी यदि यही दोष जैनियोंके यहां भी दिया जाय यानी जैनियोंने जैसे 'सद्द्रव्यलक्षणं' ये द्रव्यका लक्षण माना है और जीवादि द्रव्यमें वे उस द्रव्य लक्षणकी अनुवृत्ति करते हैं अतः उनके यहां भी तो द्रव्य लक्षण नहीं बनसकता ऐसा आरोप नहीं कर सकते क्योंकि जैन दर्शनानुसार लक्षणका लक्षण असाधारण धर्म वचन नहीं है युक्ति बाधित होनेसे। लकड़ीके सम्बन्धसे मनुष्यको भी कभी २ लकड़ी कह दिया करते हैं लेकिन लकड़ी यह मनुष्यका असाधारण धर्म न होनेपर लक्षण माना जाता है अतः जैन दार्शनिक असाधारण धर्मको लक्षण नहीं मानते अतएव उक्त दोष उनके ऊपर नहीं आसकता बल्कि उन्हींके ऊपर आता है जो कि असाधारण धर्मको लक्षण मानते हैं । दूसरे, जैनियोंके द्वारा स्वीकृत द्रव्यका लक्षण जहां जहांपर पाया जायगा वहां वहां द्रव्यत्वका निश्चय कर देगा ।

प्रतिपक्षी (शङ्काकार)–जैनियोंके यहां जैसे जहां २ द्रव्यका लक्षण रहेगा वहां वहां द्रव्यत्वका निश्चय करा देगा उसी तरह हमारा भी द्रव्य लक्षण जहां २ रहेगा द्रव्यत्वका निश्चय करा देगा।

(जैनी)–आप ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि आप तो द्रव्यका लक्षण द्रव्यसे सर्वथा भिन्न मानते हैं, यदि अभिन्न मानेंगे तो स्वसिद्धान्त हानि होगी।

(प्रतिपक्षी) द्रव्यत्वके योगसे हम द्रव्य सिद्ध कर लेंगे।

(जैनी) ऐसा करनेसे तो उपचारसे ही द्रव्यकी सिद्धि होगी क्योंकि–" मुख्याभावे सतिप्रयोजने उपचारः प्रवर्तते " मुख्यके न रहनेपर और प्रयोजनके होनेपर उपचारकी प्रवृत्ति होती है।

अस्तु तुष्टु दुर्जनः न्यायसे आपका द्रव्यलक्षण सिद्ध भी मान लिया जाय तथापि पृथ्वी, अप, तेज, वायु, मनमें ही उपर्युक्त द्रव्यका लक्षण जाता है। आकाश, काल, दिशा आत्मामें नहीं जाता अतः पक्षैकव्यापक होनेसे द्रव्य लक्षण आदरणीय नहीं कहा जा सकता।

(प्रतिपक्षी) आकाश, काल, दिशा, आत्मामें गुणवत् समवायिकारणं यह द्रव्यका लक्षण संघटित हो जायगा अतः हेतु पक्षाव्यापक नहीं हुआ।

(जैनी) ऐसा कहनेसे दो लक्षण द्रव्यके सिद्ध हो गये एक "क्रियावत् गुणवत्समवायि कारणं" दूसरा 'गुणवत समवायिकारणं'।

जब दो लक्षण सिद्ध हो गये तो द्रव्य पदार्थोंकी इन दो लक्षणोंसे सिद्धि होनी चाहिये अतः पुनः द्रव्यका लक्षण निर्दोष नहीं कहा जा सकता, जिससे कि पृथ्वी आदि नव द्रव्योंकी सिद्धि हो सके और फिर–" समवायसम्बन्धावच्छिन्न गन्धवत्त्वावच्छिन्नाधेयता निरूपिताधिकरण तावत्त्वं गन्धवत्त्वं" इत्यादि पृथ्वीका लक्षण नहीं बन सकता। क्योंकि लक्ष्य द्रव्यकी विना सिद्धि किये लक्षण नहीं बन सकता।

सांख्य अर्थ क्रिया कारित्व ही वस्तुका लक्षण मानते हैं—

इनका कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि मुक्तजीव नोकर्म मलावरणसे सर्वथा मुक्त हो गये हैं उनके क्रियाके अभावसे अवस्तुताका प्रसंग आता है। कोई कहे कि हम मुक्तोंमें भी क्रिया मान लेंगे तो उसके मतमें मुक्त जीवको कर्मभावका ही उच्छेद हो जायगा क्योंकि संसारी क्रियावान् है सकर्मक होनेसे। जो जो सकर्मक होते हैं वे ही क्रियावाले होते हैं जैसे कि रथ्यापुरुष। इस अनुमानमें सकर्मक और क्रियावान्का आपसमें अविनाभाव सम्बन्ध बतलाया है। मुक्तोंमें सकर्मकत्व हेतु न रहनेसे क्रिया नहीं मानी जा सकती, यदि

कोई ऐसी शंका करे कि मरण पश्चात् जीव दूसरी गतिको जाता है उस समय इसके कोई कर्म नहीं होते हैं तथापि दूसरी गतिके लिए गमनरूप क्रिया करता ही है, यह भी ठीक नहीं क्योंकि विग्रह गतिमें जीवके कार्मणकाययोग रहता ही है। क्रिया उत्क्षेपण अवक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण, गमन इ तरह पांच प्रकार बतलाई गई है। मुक्तोंमें उक्त पांच क्रियाओंमेंसे कोई भी क्रिया नहीं देखी जाती अतः मुक्त सक्रिय नहीं हो सक्ते हैं और निष्क्रिय होनेसे अवस्तुताकी आपत्ति आती है अतः वस्तुका लक्षण अर्थक्रिया-कारित्व भी नहीं मानना चाहिये। वैशेषिक 'वस्तुका लक्षण सत्तारूप है' ऐसा ही मानते हैं, उनका यह लक्षण मानना भी समुचित नहीं है क्योंकि सत्तासे उनने महासत्ता मानी है और उस महासत्ताको वे नित्य ही मानते हैं अतः सिद्ध नहीं हो सक्ती।

सभ्य महोदय! पूर्वोक्त कथनमें द्रव्यके लक्षणकी परीक्षा करनेके लिए द्रव्यका लक्षण अच्छी तरह तर्क कसौटी पर चढ़ाया गया है। अब अगाड़ी मुझे आपके सामने यह और पेश करना है कि द्रव्य कितनी हैं और किस किसने कितनी मानी हैं।

यह बात भली भांति विदित होगी कि पदार्थको प्रत्यक्षगत करके ही तुलना की जाती है। उससे पदार्थका जितना विशद ज्ञान होता है उतना अनुमानादिसे नहीं होता। तुलनाको हमें कषसेकष द्विष्ठ अवश्य मानना चाहिये क्योंकि तुलना विना पदार्थान्तरके नहीं होती, जैसे कि काले रूपके रहनेसे ही शुक्ल रूपकी महत्ता या अन्धकारके रहनेसे प्रकाशकी, रात्रिके होनेसे दिनकी, मूर्खसे विद्वत्ताकी, तथैव द्रव्यके सम्यक् लक्षणकी भी द्रव्य-लक्षणाभासोंसे महत्ता है और द्रव्यसंख्याकी महत्ता भी तभी प्रमाणत्वको प्राप्त होती है जब कि द्रव्यसंख्याभास (झूठी द्रव्यकी संख्या) हो अतः यहां पर कल्पित द्रव्यसंख्याको लिखकर और उसका खण्डन करके स्वयं जैनियोंके द्वारा कल्पित संख्याके सिद्ध करनेमें यही तात्पर्य है।

जिस तरह दूसरोंके द्वारा स्वीकृत द्रव्यके लक्षण भिन्न २ होने पर भी सम्यक्पना-को नहीं प्राप्त होते हैं उसी तरह अन्य महाशयों द्वारा निर्धारित द्रव्यकी संख्या भी ठीक २ प्रतीत नहीं होती। किन्हीं २ की मानी हुई संख्या किसी न किसी भेद कर रहित और किन्हीं किन्हींने उस द्रव्यकी संख्या वृद्धिके लिए पुनरुक्तको भी दोष नहीं माना है।

"द्रव्याधिकरणवृत्ति सत्ताभिन्न जातिमत्वंद्रव्यस्यैव लक्षणं" इस द्रव्यके लक्षणको स्वीकार करने वाले वैशेषिक सात पदार्थ द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव मानते हैं। यहां उनका स्वरूप सिद्धान्त बताकर पुनः मैं जैनियोंके द्वारा कल्पित संख्याकी तुलना करता हुआ वैशेषिकोंकी अभिमत्य द्रव्य संख्याकी निरर्थकता बतलाऊंगा।

वैशिषिक, संसारमें पदार्थ दृष्टिसे हम देखते हैं तो हमें सात पदार्थ ही ज्ञात होते हैं जो कि ऊपर वर्णित हैं।

शङ्काकार—आप लोग शक्तिको आठवां पदार्थ क्यों नहीं मानते यदि आप कहें कि शक्ति वस्तुभूत नहीं है तो परीक्षा पथको हम आपके वचन मात्रसे यह नहीं मानसक्ते, शक्तिके साधक प्रमाण निर्दोष और सबल हैं अतः शक्तिको आठवां पदार्थ मानना चाहिये। हम देखते हैं कि अग्निका प्रतिबन्धक कोई कारण जबतक नहीं समीप आता अग्नि बराबर अपना दहन करना कार्य जारी रखती है। प्रतिबन्धक मणि आदिके आजाने पर उसकी शक्ति विनष्ट हो जाती है और फिर वह दाह नहीं करती अतः यह बात सुतरां मान्य है, कि शक्ति पदार्थान्तर है। यह शङ्काकारकी शङ्का भी अविचारित ही है, क्योंकि दाहकत्व कार्यके लिए अग्नि कारण है लेकिन कालान्तर रहित या किसीके द्वारा बाधित सामर्थ्य कारण कार्योत्पत्तिके लिए मजबूर नहीं किया जा सकता"। यहां जो मणिके सद्भावसे अग्निकी दाहकत्वका अभाव हुआ सो यहां अग्निके दाहकत्व कार्यके लिए उत्तेजकाभाव विशिष्ट मणिभाव कारण है जब कि मणिके सद्भाव होने पर उत्तेजकके अभावसे विशिष्ट मणि अभाव रूप कारण ही नहीं तो कार्य कैसे हो सकता है। अतः शक्ति कोई पदार्थान्तर नहीं है।

(शङ्काकार) अस्तु, शक्ति पदार्थान्तर नहीं है ऐसा हम भी मानते हैं किन्तु आपने जो द्रव्यके पृथ्वी, अप (जल), तेज (अग्नि), वायु (हवा), आकाश, काल, दिशा, आत्मा, मन ये ९ भेद माने हैं उनमें आपको अन्धकार भी एक १० वीं द्रव्य मानना चाहिये क्योंकि 'नीलं तमः चलति' यहां पर अन्धकारमें आपकी द्रव्यका लक्षण अच्छी तरह घटित हो जाता है। आपने द्रव्यका लक्षण "क्रियावत् गुणवत् समवायि कारणं द्रव्य लक्षणं" ऐसा किया है। चलति (चलता है) इस क्रियाका आधार होनेसे अन्धकारमें क्रियावत् विशेषण रह ही जाता है तथा नीलं तमः (नीला अन्धकार—अन्धकारकी बहुसमुन्नतदशा)। ऐसा कहनेसे गुणवत् विशेषण भी घटित होही जाता है अतः अन्धकारको द्रव्य मानना ही चाहिये और उक्त ९ द्रव्योंमें इसका अन्तर्भाव भी नहीं है। आकाश, काल, दिशा, आत्मा, मन, ये रूप रहित और अन्धकार सरूप हैं। अतः इनमें उसका (अन्धकारका) अंतर्भाव नहीं किया जासक्ता। अन्धकार गन्ध रहित है अतः गन्धवाली पृथ्वीमें अन्तर्भावित नहीं हो सक्ता तथा अन्धकार शीत गुण विशिष्ट भी नहीं है अतः जल, उष्णगुणसे भी रहित है अतः तेजमें नहीं घट सक्ता"। अब जब कि अन्धकार उक्त नौ द्रव्योंमें अंतर्भूत भी नहीं होता, और

द्रव्यका लक्षण इसमें घट ही जाता है फिर भी अन्धकारको द्रव्य न माननेमें सिवाय तीव्र मोहके और कोई कारण नहीं कहा जासक्ता।"

यह सब उक्त शङ्काकारका बकवाद मात्र ही है। क्योंकि अन्धकार तेजके अभावके सिवाय कोई सावान्तर नहीं है।

(शङ्काकार) यदि ऐसा ही है तो फिर अन्धकारका अभाव ही तेज द्रव्य हो जायगा। अन्धकार ही को मान लीजिए। तमको तेजका अभाव होनेसे न मानना और तेजको तमका अभाव होने पर भी मानना यहां विद्वेषातिरिक्त क्या कारण कहा जा सक्ता है?

(उत्तर दाता) यदि तेज द्रव्यको अन्धकारका अभाव मान लिया जाय तो अभावमें सर्वानुभूत उष्णत्व नहीं रह सक्ता, और फिर उस उष्णत्वकी आधार रूप कोई अन्य द्रव्य माननी पड़ेगी।

द्वितीय, अन्धकार चलता है यहां द्रव्यका लक्षण भी संघटित नहीं होता। क्योंकि नील रूपको जो यहां प्रतीति होती है वह भ्रांत रूप ही है। अतः द्रव्य ९ ही माननी चाहिये न अधिक और न कम। इस सबके माननेवाले वैशेषिकके मतमें द्रव्यकी एकता सिद्ध नहीं हो सक्ती क्योंकि द्रव्यको ९ भेदशाली माना है और द्रव्यको एकता न बननेसे सात पदार्थोंकी सिद्धि नहीं हो सक्ती, क्योंकि स्वतंत्र नौ द्रव्योंको एक द्रव्य सिद्धि होनेपर द्रव्य रूप, रस, गंध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रव्यत्व, स्नेह, शब्द, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार इन २४ गुणोंमें ऐक्य सिद्ध होनेसे एक गुण, उत्क्षेपादि पूर्वोक्त पांच क्रियाओंमें एकता सिद्ध होनेसे एक क्रिया, पर-अपर दो सामान्योंमें तथा नित्य द्रव्यमें रहनेवाले अनन्त विशेषोंमें एकत्व सिद्ध होने पर एक सामान्य व एक विशेष, प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यंताभाव, अन्योन्याभाव इन चार अभावोंमें एकता सिद्ध होनेसे एक अभाव, एक समवायके समान सिद्ध होते तो सात पदार्थोंकी सिद्धि होती लेकिन उक्त द्रव्य गुण कर्मादिकोंमें एकता सिद्ध नहीं हो सकती अतः पदार्थ सात हैं यह कहना भ्रममात्र है। द्रव्यत्वके योगसे एक द्रव्य मानेंगे तो उपचारसे ही एकता सिद्ध होगी परमार्थतः सिद्ध नहीं हो सकती।

(शङ्काकार)—द्रव्य एक पदकी सामर्थ्यसे द्रव्यके सब भेद, प्रभेद ग्रहण कर लिये जावेंगे अतः द्रव्यमें एकता और गुण कर्मादिमें भी इसी तरह एकता आनेसे सात पदार्थकी सिद्धि हो जायगी, उत्तम्—

विस्तरेणोपदिष्टानामर्थानां तत्त्वनिश्चये।
समासेनाभिधानं यत्सग्रहं तं विदुर्बुधाः॥

अर्थ—विस्तारपूर्वक जिन पदार्थोंका तत्त्वनिश्चयके लिए उपदेश दिया जाता है

उनका जो संक्षेपसे कहना है उसे संग्रह कहते हैं। अतः संग्रहनयकी अपेक्षासे एकता सिद्ध हो जायगी अतः सात पदार्थ मानना चाहिये।

उक्त कथन भी समुचित नहीं है क्योंकि एक पद वाच्य होनेसे एकता की ही प्रतीति होती है, ऐसा नियम नहीं है क्योंकि सेना वन आदि एक पद वाच्य अनेक पदार्थ देखे जाते हैं। यहां ऐसी शंका करना कि सेना वनादि एक पद वाच्यसे संबंध विशेषयुक्त एक की ही प्रतीति होती है। वह सम्बंध संयुक्त संयोगाल्पीयस्त्व लक्षणवाला कहा जाता है।

संयुक्तका जो नैरन्तर्य सम्बन्ध यानी संयुक्तका जो निकटवर्तित्व सम्बन्ध उसे संयुक्त संयोगाल्पीयस्त्व कहते हैं। यह कहना भी युक्ति सम्मत नहीं है। क्योंकि सेना वन आदि शब्दसे सबका ज्ञान मनुष्य घोड़ा आदिमें ही होता है। वन शब्दके कहनेसे पृथक् २ पेड़ोंमें ही होता है। सम्बन्ध विशेषमें जो आप ज्ञान बताते हैं सो नहीं होता अतः एक पद वाच्य होनेसे एकताकी सिद्धि नहीं होसक्ती। अन्यच्च एक पद वाच्य होनेसे यदि एकताकी सिद्धि की जाय तो एक गोके द्वारा वाच्य जो ११ शब्द हैं उन सभीकी एकता माननी चाहिये।

उक्तं च-**वाचि, वारि, पशौ, भूमौ, दिशि, लोम्नि, पवौ, दिवि।**
विशिखे, दीधितौ, दृष्टावेकादशसु गोर्मतः॥

गोशब्द वचन, पानी, पशु, भूमि, दिशा, रोम, वज्र, आकाश, बाण, किरण और किरण इन ११ अभिधेयोंमें है।

एवं एक य शब्दके वाच्य त्याग, नियम, यम, वायु, धाता, पाता रक्षक इन छहोंमें भी एकता होनी चाहिये।

(**शङ्काकार**) वचन पशु आदिका वाचक गोशब्द, त्याग, नियम, यम आदिका वाचक य शब्द भिन्न भिन्न ही हैं फिर एक पद वाच्यत्व ही यहां नहीं रहता तो एकता कैसे।

(**उत्तर**) यह भी आपका कहना ठीक नहीं, ऐसे हम भी कहसक्ते हैं कि पृथ्वी जल आदिका वाचक अलग अलग ही द्रव्य शब्द हैं अतः एक पद वाच्यता न होनेसे एकता नहीं हो सकती।

संग्रह किये जांय अनेक पदार्थ जिस शब्दसे ऐसा शब्दात्मक संग्रह और एक प्रत्ययसे अनेक पदार्थ ग्रहण किये जाय ऐसा प्रत्ययात्मक संग्रह और अर्थात्मक इन तीनों संग्रहोंसे द्रव्यकी एकता सिद्ध नहीं की जासक्ती। द्रव्यकी ९ संख्या मानना भी संख्याभास है क्योंकि इन ९ द्रव्योंका जीव पुद्गलमें अन्तर्भाव हो जाता है।

पृथ्वी, अप, तेज, वायु, मनका स्पर्श, रस, गन्ध, रूपवाले होनेसे पुद्गल द्रव्यमें अन्तर्भाव हो जाता है क्योंकि जो जो स्पर्श रूप रस गन्धवाले होते हैं वे पौद्गलिक होते हैं जैसे आँख।

वायु और मनमें रूप न मानना भी न्यायसंगत नहीं है क्योंकि वायुरूप युक्त है स्पर्शवाली होनेसे। इस अनुमानसे वायुको रूपता सिद्ध ही है। वायुका रूप देखनेमें नहीं आता अतः उसे मानना भी नहीं चाहिये, यह कहना भी न्यायसन्य नहीं है क्योंकि जो जो देखनेमें नहीं आवे उन उनका अभाव, यदि आप ऐसा कहेंगे तो तुम्हारे देखनेमें परमाणु नहीं आसकता अतः उसका भी अभाव कहना चाहिये। या तुम्हारे देखनेमें अपने बाबा परबाबा आदि भी देखनेमें नहीं आते अतः वे हैं ही नहीं ऐसा ही कहना चाहिये।

(शङ्काकार)—परमाणु परबाबा आदि यद्यपि प्रत्यक्ष नहीं है तथापि कार्यसे कारणका अनुमान होता है। इस न्यायसिद्धांतानुसार कार्य जो मकान आदि उनसे कारण परमाणु आदिका और पिता हैं अतः पाबाबाका हम ज्ञानकरलेंगे। लेकिन वायुके रूपका कोई कार्य नहीं जिससे कि कारण स्वरूप रूपका ज्ञान किया जाय।

(उत्तर)—ऐसा भी नहीं कहा क्योंकि स्पर्शत्वकी रूपवत्वके साथ व्याप्ति सिद्ध है अतः जहां स्पर्शवत्व होगा रूपवत्व वहां अवश्य मानना पड़ेगा।

मन दो प्रकारका होता है द्रव्यमन और भावमन। द्रव्यमन अष्टकमलदलमें रहता है और तदाकार जो आत्माके प्रदेश हैं उसे भावमन कहते हैं। चक्षुकी तरह ज्ञान और उपयोगका कारण होनेसे मन भी रूपादिवाला है, भावमनका अन्तर्भाव आत्मामें हो जाता है।

(शंका) आपने जो ज्ञानोपयोगवत्व हेतुसे मूर्तिमत्वकी सिद्धि की सो ठीक नहीं है क्योंकि ज्ञानोपयोगवत्व हेतु शब्दमें भी रहजाता है जो कि विपक्ष है। यानी मूर्तिमत्व साध्यसे विरुद्ध है अतः अनैकान्तिक दोषसे दुष्ट हेतु होनेके कारण साध्य सिद्धि नहीं कर सकता।

(उत्तर) यह आपकी शंका सर्वथा आपहीसे मान्य हो सकती है क्योंकि शब्दको पौद्गलिक होनेसे हम मूर्तिमान् मानते ही हैं।

(शङ्काकार) यदि शब्द पौद्गलिक होता तो अन्य २ पुद्गलके समान दिखलाई देता लेकिन जब शब्द दिखलाई ही नहीं देता तो मूर्तिमान कैसे सिद्ध हो सकता है।

यह शङ्का भी नहीं करनी चाहिये क्योंकि वक्ताके मुखके निकट देशी मनुष्य प्रत्यक्षसे और दूर देश स्थित पुरुष अनुमान कर अपनी मुख पर रुई आदि हल्की वस्तु

(जैन) प्रकृति करने वाली नहीं हो सकती, भोगनेवाली न होनेसे। जो जो भोगनेवाली नहीं है वह करनेवाली भी नहीं है जैसे मुक्तात्मा कर्मके अभावसे कुछ भोगने वाले नहीं है अतः वे कर्ता भी नहीं हैं। प्रकृतिको आपने न भोगनेवाला माना ही है अतः उसे कार्य कर्तृ भी नहीं माननी चाहिये क्योंकि भोक्तृत्वके अभावकी कर्तृत्वके अभावके साथ व्याप्ति है।"

यहां कोई मनचला आदमी यह कहे कि रसोइया कर्ता है लेकिन भोक्ता नहीं है, भोक्ता मालिक है यह उसका कहना केवल हास्यके लिए ही हो सकता है क्योंकि पाचक जो कुछ प्रयत्न करता है उसका फल यानी भोग रुपया आदि लेकर अवश्य करता है।" अदैतनिक काम करनेवाले भी यश आदि संचय करके स्वकृत कार्यके फल भोग ही लिया करते हैं और यदि कर्ताको भोक्तासे सर्वथा भिन्न मानेंगे तो भुज धातुसे कर्तामें प्रत्यय होकर जो भोक्ता शब्दकी सिद्धि होती है वह नहीं हो सकती।

हास्योत्पादक बात तो यह है कि प्रकृतिको तो सांख्योंने मुक्तदाता माना है और इस उपकारके लिए पुरुषको मोक्ष इच्छुक पूजते हैं। यह सिद्धान्त इस बातकी सिद्धिके लिए पूर्ण बाधक होगा कि "भोजन अन्य ही करे और पेट दूसरेका ही भरे" अतः सांख्यके द्वारा स्वीकृत अर्थ संख्या भी ठीक नहीं है क्योंकि उनके स्वीकृत चौवीसों पदार्थोंका जीव अजीवके अन्दर ही अन्तर्भाव हो जाता है।

अब कुछ बौद्धोंके विषयमें और कहके मैं इस प्रकरणको समाप्त करता हूं। बौद्धके चार भेद हैं—१ माध्यमिक, २ योगाचार, ३ सौत्रांतिक, ४ वैभाषिक, इन चारों भेदोंका पृथक् २ सिद्धांत बतला देनेसे बौद्धमान्य पदार्थ संख्याका कम ढांचा है यह अच्छी तरह समझमें आ जायगा।

शून्यो माध्यमिको विवर्तिमखिलं शून्यस्य मेने जगत्।
योगाचारमते तु सन्ति मतयः तासां विवर्तोऽखिलाः॥
अर्थोऽस्ति क्षणिकस्त्वसावनुमितौ बुद्ध्येति सौत्रान्तिकः।
प्रत्यक्षं क्षणभंगुरं च सकलं वैभाषिको भाषते॥

माध्यमिक चेतन चेतन ही पदार्थ मानता अवशिष्ट सबको उसकी पर्याय मानता है। "केवलं संविदं स्वस्थां मन्यन्ते मध्यमा पुन इति वचनात" माध्यमिक लोग केवल सचेतन सूक्ष्म पदार्थ मानते हैं।

योगाचार मतानुयायी ज्ञान ही ज्ञान मानते हैं अन्य पदार्थ नहीं। अन्य सब पदार्थ ज्ञानकी पर्याय हैं ऐसा कहते हैं। "आकारसहितावुद्धिः योगाचारस्य सम्मता" आकार सहित बुद्धि (पदार्थज्ञान) को योगाचारके मतमें प्रमाणता है। सौत्रान्तिक बुद्धि यानी

प्रत्यक्षके द्वारा अनुमित पदार्थको ही मानता है और वह पदार्थ क्षणस्थिति शील (क्षणिक) है ऐसा कहता है।

"सौत्रान्तिकेन प्रत्यक्ष ग्राह्योऽर्थो न बहिर्मतः" सौत्रांतिकर (नास्तिक) केवल प्रत्यक्ष वस्तु ही को मानता है।

यद्यपि बौद्ध सामान्य पनेसे प्रत्यक्ष अनुमान दो प्रमाण मानते हैं किन्तु बौद्ध भेदान्तर्गत सौत्रान्तिक केवल प्रत्यक्ष पदार्थको ही मानता है। वैभाषिक संपूर्ण पदार्थोंको प्रत्यक्ष और क्षणभङ्गुर मानते हैं।

"अर्थोज्ञानान्वितः वैभाषिकेण बहुमन्यते" वैभाषिक ज्ञानान्वित पदार्थको बहु ज्ञान मानते हैं" यह सूक्ष्मतः बौद्धोंकी पदार्थ कल्पना है।

बौद्ध पदार्थको क्षणिक मानते हैं। वे कहते हैं कि "सर्वं क्षणिकं सत्वात्" सब पदार्थ क्षणविनश्वर हैं सत होनेसे। यह अनुमान ठीक नहीं है। क्योंकि सत्वरूप जो हेतु है उसे यदि आप स्वभाव हेतु मानेंगे तथापि नहीं बन सकता। क्षणिकके विनश्वर होनेसे हेतुकी ही प्रवृत्ति ही नहीं होती। क्योंकि प्रत्यक्षगोचर पदार्थमें ही हेतुकी प्रवृत्ति होती है। पदार्थोंका क्षणभंगुरता स्वभाव भी नहीं है।

(शङ्काकार) सब ही पदार्थ एक क्षणतक रहनेवाले हैं। विनाशके लिए दूसरोंकी अपेक्षा न करनेसे, जैसे कि कार्योत्पादके ठीक एक समय पहिलेकी सामग्री कार्योत्पत्तिमें किसीकी आवश्यकता नहीं रखती है।

दुनियामें घटादिकका मुद्गरादिकसे नाश होता है, ऐसा कथन सिर्फ स्थूल बुद्धिवालोंका ही है। पदार्थ स्वविनाशी हैं। मुद्गरादिक उसका विनाश नहीं करते।

कल्पना कीजिए कि यदि मुद्गरने घरका विनाश किया तो घरसे भिन्न किया अभिन्न। यदि भिन्न कहेंगे तो घरकी स्थिति बनी ही रहनी चाहिये। यदि अभिन्न नाश किया तो मुद्गरने घरको बना दिया।

सत्वरूप हेतुकी विपक्षवृत्ति नहीं है अतः साधु है, क्योंकि सत्व अर्थ क्रियासे व्याप्त है, अर्थ क्रियाकम यौगपद्यसे व्याप्त है, नित्यमें क्रम यौगपद्य नहीं रहते अतः अर्थ क्रिया भी नहीं रहेगी और अर्थ क्रियाके न रहनेसे नित्यमें सत्व भी नहीं रह सकता अतः निर्दोष सत्व हेतु क्षणिक पदार्थकी सिद्धि करता ही है।

यह बौद्धोंका कहना भी शोभाको प्राप्त नहीं होता, क्योंकि क्षणिक सिद्धिके लिए जो हेतु दिया था वह सर्वथा सदोष है। घटपटादि पदार्थ विनाशके लिए दूसरोंकी अपेक्षा रखते ही हैं और पदार्थोंको विनाश स्वभावता क्षणिक रूपसे नहीं मानी जासकती। उक्त स्व-

समुदेति विलयमृच्छतिभावो नियमेन पर्ययनयस्य ।
नो देति नो विनश्यति भावनया लिङ्गितो नित्यम् ॥

अर्थ—पदार्थ पर्यायनयकी अपेक्षासे उत्पाद विनाशको प्राप्त होता है । द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा पदार्थ नित्य ही है ।

दूसरे जो यह हेतु दिया था कि सत्व अर्थ क्रियासे व्याप्त अर्थ क्रियाक्रम योगपद्यसे क्रम योगपद्य नित्यमें रहते नहीं अतः सत्व रूप हेतु विपक्षमें न रहनेसे साधु है सो हम इसका उल्टा भी कह सकते हैं यानी सत्व अर्थ क्रियासे व्याप्त है, अर्थ क्रियाक्रम योगपद्यसे व्याप्त है और क्रमयोगपद्य क्षणिकमें रहता नहीं अतः विपक्षके समान पक्षमें भी हेतु नहीं रहता । इस लिए हेतु असिद्ध दोषसे दूषित है क्योंकि "अमत्सत्ता निश्चितोऽसिद्धः" यानी जिसकी सत्ताका अभाव हो या सत्ताका निश्चय न हो उसे असिद्ध कहते हैं सो यहां सत्व हेतु पक्षमें न रहनेसे असिद्ध है ।

इस प्रकार वैशेषिक, नैयायिक, सांख्य, बौद्ध, इनकी पदार्थ संख्याका खंडन किया । अब जैनियोंके स्वीकृत जीवादि ६ पदार्थोंका क्या क्या सामान्य विशेष स्वरूप है और कैसे सिद्धि है यह बतलाते हैं ।

युगलात्मक संसारमें निरपेक्ष दृष्टिसे हम देखते हैं तो संसारका सार युगम ही दिखलाई देता है । जहां देखते हैं युग्मकी ही भरमार है । गौण या मुख्य, स्त्री—पुरुष, पुत्र—पुत्री, लड़का—लड़की, सम्यक्त्व—मिथ्यात्व, एकान्तवादी—अनेकान्तवादी, उल्टा—सीधा, भला—बुरा, ऊंच—नीच जिस तरह इन युग्मोंका आधिपत्य है उसी तरह संसार दो ही पदार्थ दिखलाई एक जीव है और दूसरा अजीव । इसे युग्ममें संसारके सभी युग्म आकर मिल जाते हैं ।

"जीव शब्दकी व्युत्पत्ति 'जीवति—प्राणान् धारयति' जो प्राणोंको धारण करे इस प्रकार की गई है" । जिस तरह जीवद्रव्य संसारी मुक्तात्मा इन दो भेदवाला है उसी तरह अजीवके पांच भेद हैं—१ पुद्गल, २ धर्म, ३ अधर्म, ४ आकाश, ५ काल ।

अब क्रमसे पहिले जीवकी सिद्धि करते हुए पुद्गलादिकी आवश्यकता और सिद्धिका निरूपण करेंगे" ।

जीवद्रव्यकी आवश्यकता और सिद्धिः ।

जीवके पूर्वोक्त दो भेदोंके अतिरिक्त और भी एकेन्द्री, दोइंद्री, तेइन्द्री, चौइन्द्री, पंचेंद्री ये पांच भेद हैं । एकेन्द्रीके पृथ्वीकाय, अप्काय, वायुकाय, तेजकाय, वनस्पतिकाय ये पांच भेद हैं । वनस्पतिके दो भेद हैं—साधारणव०, प्रत्येकव०, प्रत्येकके सप्रतिष्ठित

नरक, स्वर्ग, मोक्ष मानना युक्तिरहित्य होनेसे मूर्खता द्योतक है। क्योंकि प्रत्यक्षसे न नर्क ही दिखता है और न स्वर्गादि ही, फिर आश्चर्यकी बात है कि इस अंध-परंपरा पर लोगोंका क्यों विश्वास होता आ रहा है। उक्तञ्च-

अत्र चत्वारि भूतानि भूमिवार्धनलानिला।
चतुर्भ्यः खलु भूतेभ्यश्चैतन्यमुपजायते॥

भूमि, वारि (जल), अनल (अग्निः), अनिल (वायुः) ये ४ ही पदार्थ हैं, इनसे ही जीवका निर्माण होता है।

किण्वादिभ्यः समेतेभ्यो द्रव्येभ्यो मद शक्तिवत्।
अहं स्थूलः कृशोऽस्मीति सामानाधिकरण्यतः॥

अर्थः—जैसे किण्व आदिक मदोत्पादक कारणोंसे मद शक्ति उत्पन्न होती है, उसी प्रकार चार भूतोंसे चैतन्यकी उत्पत्ति होती है। देह और चैतन्य भेद मानना सर्वथा मिथ्या है क्योंकि मनुष्य जो कुछ अधिक मोटा होता है कहता है कि मैं मोटा हूं और इससे जो प्रतिपक्षी है वह अपने आपको कहता है कि मैं बहुत पतला हूं, यहां मैं२ इन शब्दोंसे मोटा शरीर और पतला शरीर इसका ही ग्रहण होता है। देहके सिवाय किसी अन्यका ग्रहण नहीं होता जिससे अदृश्य जीवकी कल्पना की जाय।

देहः स्थौल्यादि योगाच्च स एव आत्मा न चापरः।
मम देहोऽयमित्युक्तिः सम्भवे दौपचारिकी॥

अर्थः—मेरा यह देह है, मेरा शरीर स्थूल या कृश है इत्यादि भेद प्रतिपादक वचन उपचरित ही हैं क्योंकि देहको छोड़कर आत्मा कोई देही नहीं है।

यावज्जीवं सुखं जीवेत् नास्ति मृत्योरगोचरः।
भस्मीभूतस्य जीवस्य पुनरागमनं कुतः॥

अर्थ—जबतक कि जीवन है आनन्दसे जीना चाहिये क्योंकि सब ही का नाश अवश्यंभावी है और नाश होनेके बाद पुनः जीव आता नहीं जिससे कि फिर सुख भोग सकें।

तथा जीव स्वर्ग मोक्ष आदि आदि किसीकी भी सिद्धि नहीं होती। पुनः जो ब्राह्मणादि जीवादिका उपदेश देते हैं वे अपने स्वार्थवश होकर ही देते हैं।

ततश्च जीवनोपाय ब्राह्मणैः विहितस्त्विह।
मृतानां प्रेतकार्याणि न त्वन्यद्विद्यते क्वचित्॥

अर्थात्—धूर्त ब्राह्मण गणने अपने जीवनोपायके लिए नाना क्रियाओंका कथन किया है। यह उनका कथन है कि मनुष्यके मरनेके बाद प्रेतकार्य करने पड़ते हैं, क्योंकि विना प्रेतकार्य किये मनुष्य स्वर्ग सुख कभी भी प्राप्त नहीं कर सकता।

त्रयो वेदस्य कर्तारो भण्डधूर्त निशाचरा।
जर्फरीतुर्फरीत्यादि पण्डितानां वचः स्मृतम् ॥

अर्थः—वेदके तीन ही मुख्य कर्ता है—भण्ड, धूर्त, राक्षस, क्योंकि जर्फरीतुर्फरी आदि वचन धूर्त, भण्ड, राक्षस पण्डितोंके वचन ही हैं। इस तरह जब जीवकी ही सिद्धि नहीं होती तो फिर अजीव किस तरह सिद्ध होगा, क्योंकि जो जीव नहीं उसे अजीव कहते हैं। अजीव जीवका प्रतिषेध रूप है, प्रतिषेध हमेशह विधि पूर्वक होता है। जब कि मुख्य जीव अजीव ये पदार्थ ही सिद्ध नहीं होते तो जीव पुद्गलकी गति स्थितिके सहायक धर्म, अधर्म द्रव्य, अवगाह देनेवाला आकाश, तथा इनको वर्तानेवाला काल ये कैसे सिद्ध हो सकते हैं। और जीव अजीवके बन्ध निर्जरा मोक्षादि कैसे सिद्ध होंगे।

इस तरह जीव, धर्म, अधर्म, आकाशादि किसीके सिद्ध न होनेसे चार्वाकमत सिद्ध हो गया और उसीका सब लोगोंको आश्रय लेना चाहिये। सांख्य मतानुयायी जीवको मान करके भी कूटस्थ नित्य मानते हैं। मीमांसक अकिञ्चित्कर मानते हैं, नैयायिक जीवको जड़ रूप मानते हैं, और बुद्धानुयायी ज्ञान सन्तान रूप ही मानते हैं। इत्यादि सिद्धांत माननेवाले परमार्थतः सत्य सिद्धांतसे बहुत दूर पडे हुए हैं।

प्रथम चार्वाक मतका खण्डन किया जाता है—पृथ्वी, अप, वायु, और अग्निसे यदि जीव बनता होता तो पृथ्वी आदिके गुण उसमें अवश्य पाये जाने चाहिए क्योंकि कारणके धर्म कार्यमें अवश्य आया करते हैं, यदि ऐसा न हो तो मिष्ट गुणके द्वारा बनी हुई चीज़ कड़ुई भी लगनी चाहिये। और विषके द्वारा मनुष्यको नशा भी नहीं आना चाहिये इत्यादि तथा ऐसा होनेसे पदार्थ व्यवस्थाका व्याघात हो जायगा। अतः कार्यमें कारणके धर्म अवश्य आना चाहिये।

जब कि पृथ्वीका गन्धवत्व काठिन्य गुणात्मकत्व आदि गुण, जलका द्रव्यत्वादि, वायुका ईरणादि, अग्निका दाहकत्वादि गुण चैतन्यमें पाये ही नहीं जाते तो कभी भी यह बात मान्य नहीं हो सकती कि जीव चार भूतोंसे बना है। अन्यच्च जैसे कि कारणके धर्म कार्यमें अवश्य रहने चाहिये उसी तरह कार्यके धर्म भी उसके कारणमें अवश्य रहने चाहिये। नहीं तो यह कार्य इन्हीं कारणोंका है इसका निश्चय कैसे हो सकेगा।

चैतन्यका पृथ्वी आदिमें कोई धर्म भी नहीं पाया जाता। मनुष्यको जो ज्ञान होता

सिद्ध ही है, कि ज्ञान अपने प्रकाशनके लिए अपनेसे भिन्न कारणान्तरोंकी अपेक्षासे रहित है। प्रत्यक्ष अर्थका गुण होते हुए अदृष्टका अनुयायिकरण होनेसे प्रदीपके समान जैसे दीप अपने आपको तथा दूसरे पदार्थोंको प्रकाशित करता है।

दूसरे यदि ज्ञानको दूसरे ज्ञानसे वेद्य मानोगे तो दूसरा ज्ञान तीसरे ज्ञानसे वेद्य मानना पड़ेगा। ज्ञान होनेसे इसी प्रकार तृतीयादि ज्ञान आप अन्य ज्ञानोंके जाननेमें ही लगे रहेंगे तो प्रकृत पदार्थके जाननेसे वञ्चित ही रह जायंगे।

तृतीय दोष यह है कि परोक्षज्ञानके द्वारा पदार्थोंका प्रकाशन भी नहीं हो सकता। यदि परोक्षज्ञानके द्वारा भी पदार्थोंका प्रकाशन हुआ करे तो दूसरे व्यक्तिका ज्ञान भी हमारे लिए परोक्ष है अतः उस ज्ञानसे भी पदार्थोंका ज्ञान होना चाहिये।

अपने परोक्ष ज्ञानसे पदार्थोंका प्रकाशन होता क्योंकि वह ज्ञान समवाय सम्बन्धसे अपनी आत्मामें रहता है और दूसरेके परोक्ष ज्ञानसे पदार्थ प्रकाशन नहीं होसकता है क्योंकि वह ज्ञान अपनी आत्मामें नहीं रहता। यदि ऐसा कहेंगे तो यह आपका कहना भी विचारशून्य है क्योंकि आप ज्ञानको आत्मासे सर्वथा भिन्न मानते हैं।

चार्वाक तो उक्त कथन कदापि कर ही नहीं सकता क्योंकि वे आत्मा समवाय आदि कुछ नहीं मानते हैं सिवाय पृथ्वी आदि ४ भूतोंके।

उक्त सर्व कथनका सार यह है ज्ञान स्वसंवेदन मानना चाहिये और उस स्वसंवेदन ज्ञानसे जीवकी सिद्धि हो ही जायगी।

और भी देखा जाता है कि उसी समयका उत्पन्न बालक विना किसीके उपदेशसे अपनी माताके स्तनसे दूध पी निकलता है। बालकके दूध पीनेकी अभिलाषा विना प्रत्यभिज्ञानके हो नहीं सकती और प्रत्यभिज्ञान विना स्मरणके नहीं होता, अतः पूर्वानुभव अवश्य ही मानना चाहिये। कोई२ भूत आदि हो जाते वे किसी न किसी आदमीके ऊपर आकर अवश्य बोलते हैं कि मैं पहिले वह था " अब वहां हूं आदि तथा कोई कोई बच्चा वृद्ध युवा पुरुष भी अपने पूर्व भवकी सब बातें बतादिया करता है। यदि ४ भूतसे जीव बने होते तो शरीरके नष्ट होनेके साथ साथ ही जीव भी नष्ट हो जाता लेकिन दूसरे भव तक उसका सम्बन्ध जाता है तो ज्ञात होता है कि चार भूतसे जीव नहीं बना है।

उक्तञ्च—

तदहर्जनस्तनेहाद्यो रक्षोदृष्टेः भवस्मृतेः।
भूतानन्वयनात्सिद्धः प्रकृतिज्ञः सनातनः॥

उसी दिनके उत्पन्न हुए बालककी स्तनमें स्वतः इच्छा होनेसे, राक्षस रूपमें किसीको देखनेसे, पूर्व भवकी स्मृति होनेसे और पञ्चभूतोंका अन्वयपन होनेके कारण जीव अनादिसिद्ध मानना ही चाहिये।

तथा च बहुतसे अनुमान जीवके साधक हैं। जैसे चक्षु आदि इन्द्रियां कर्ता जो जीव उसके द्वारा योजित होकर काम करती हैं, क्योंकि वे (चक्षु आदि) करण होनेसे वसूला के समान यानी वसूला जैसे बढ़ईसे योजित होकर काम करता है उसी प्रकार इन्द्रियां भी जीवके द्वारा प्रेरित हो कर कार्यमें लगती हैं।

सांख्य जीवको मानते हैं परन्तु कूटस्थ नित्य मानते हैं। यह उनका मानना भी युक्तिबाधित है। क्योंकि जीवके सुख दुःखादिरूप पर्यायोंसे सदा विकृति होती रहती है। कभी सुख है तो कभी दुःख, कभी ज्ञानता है तो कभी अज्ञानता। जब जीवपर्यायोंसे विकृत होता रहता है तो उसे नित्य कैसे कहते हैं।

(शङ्का) आपने सुख दुःखादिरूप पर्यायोंसे जीवको विकृत सिद्ध करके नित्यताका खंडन किया है सो ठीक नहीं है क्योंकि सुख दुःख आदि सब पर्यायें जीवसे भिन्न रहती हैं। यदि अभिन्न मानोगे तो मोक्षके जीवको भी सुखी व दुःखी मानना चाहिये।

यह भी विना विचारे मुखमस्तीति वक्तव्यंका अनुकरण करना है। क्योंकि यदि जीवसे सुखदुःख आदि भिन्न मानेंगे तो यह इस जीवके सुखदुःख हैं यह कैसे माना जा सकता है। और नित्य अनुपकारी होता है अतः वहां सुखादिका समवाय भी नहीं मानसकते।

और यदि जीवका उपकार भी मानेंगे तो आप उसे जीवसे भिन्न मानेंगे तो फिर वह प्रश्न जो कि सुखदुःखके प्रथक् माननेपर उठा था उठेगा। और यदि अभिन्न उपकार मानेंगे तो फिर विकृत होनेसे नित्यता नहीं बनसकती और जो आपने मुक्त जीवको भी सुखी वा दुःखी होनेका प्रसंग दिया था सो भी ठीक नहीं है क्योंकि सुखदुःख आदि जीवसे अभिन्न हैं इसका जो आपने अर्थ निकाला सो आपकी बुद्धिकी बलिहारी है। अभिन्न कहनेसे आपने सर्वथा अभिन्नका पक्ष ग्रहण करलिया।

अब हम आपसे पूछते हैं कि सुखदुःखसे आप क्या लेते हैं? शारीरिक सुख या आत्मीय सुख जिनको कि दूसरे शब्दोंमें ऐहिक और पारलौकिक सुख भी कह सक्ते हैं। यदि सुखदुःखसे शरीरके द्वारा होनेवाले सुखदुःख लेते हैं जो कि आत्माको शरीरकी अवस्थामें ही अनुभूत होते हैं तो कारणके विनाश होनेपर कार्य विनष्ट होजाता है अतः शरीरसे होनेवाला सुखदुःख भी अपने कारण साता और असाताके अलग होनेपर अलग हो जायगा। अतः मोक्षमें रहनेवाले जीवको सुखी या दुःखीपनेका प्रसंग नहीं आसक्ता। असाता वेदनीयका प्रमत्त गुणस्थान बन्ध होता है तथा साताका बन्ध तेरहवें गुणस्थान तक होता है। असाता व साता दोनोंका ही १४ वें के कुछ भागोंतक उदय रहता है, अन्तके भागोंमें साता असातामेंसे एकका भी उदय नहीं रहता तथा साता असाता दोनोंका सत्व

भी १४ वें गुणस्थानतक रहता है। अन्तके द्विचरममें सातकी व्युच्छित्ति हो जाती है और अन्तसमयमें असाताकी भी सत्व व्युच्छित्ति हो जाती है।

मुक्त जीव जब गुणस्थानातीत यानी गुणस्थानसे रहित हैं तो जब कि साता असाताका बन्ध, उदय, सत्वका भाव गुणस्थानोंमें ही पाया जाता है, सिद्ध अवस्थामें किसी भी कर्मका बन्धादि कुछ भी नहीं पाया जाता तो वहां सुखदुःखकी कल्पना किसीतरह भी नहीं हो सकती।

अब यदि आप द्वितीय पक्ष आत्मीय सुखका लेंगे तो निरपेक्ष दृष्टिसे आत्मीय सुखका कारण ज्ञान है वह ज्ञान मुक्त अवस्थामें सर्वथा निरावरण हो जाता है अतः वहां अनन्त सुख हो जाता है। दुःखका कोई कारण वहां उपलब्ध नहीं है जिससे कि सुखकी तरह दुःख भी माना जाय। उक्त युक्तिसे सुख दुःखका मोक्षमें भी प्रसंग देकर अपना मनोरथ सिद्ध नहीं कर सके अतः जीवको सर्वथा नित्य मानना सर्वथा भ्रम मात्र है।

सांख्य लोग भी जीव मानते हैं लेकिन अकिञ्चित्कर मानते हैं यह उनका मानना भी युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि संसारी अवस्थामें जीव कर्मका बन्ध करता ही है और जब कर्मका बन्ध करता है तो उसका फल भी अनेक प्रकारसे भोगता ही है तथा सांख्य जो प्रकृतिको कर्ता और पुरुषको भोक्ता मानता है वह पहिले दिखाया जा चुका है।

अतः सांख्य सिद्धान्त भी मान्य नहीं कहा जा सका।

अब कोई जो जीवकी सन्तानको ही जीव मानते हैं उन्हे विचारना चाहिये कि संतान विना सन्तानीके नहीं रह सकती अतः सन्तानी अवश्य मानना चाहिये। सन्तानीसे सन्तानको अलग मानेंगे तो बहुतसे दोष आवेंगे। आत्माको जो व्यापक मानते हैं उनका मत भी परीक्षासह नहीं है।

(शङ्काकार) व्यापक आत्माको सिद्ध करनेके लिए यह अनुमान जब निर्दोष है तो आत्माको व्यापक क्यों नहीं मानना चाहिये। आत्मा व्यापक है। द्रव्य होते हुए अमूर्त होनेसे, जो जो द्रव्य होते हुए अमूर्त है वह व्यापक है जैसे आकाश द्रव्य होनेपर अमूर्त आत्मा है अतः व्यापक मानना चाहिये, यह अनुमान भी ठीक नहीं है क्योंकि अमूर्त होनेसे यहांपर अमूर्तका क्या अर्थ है। रूपादि जिसमें हो उसे मूर्त, और तद्विरुद्ध अमूर्त। यदि यह अमूर्तका अर्थ करोगे तो मनमें भी हेतु चला जायगा क्योंकि मन द्रव्य होकर रूपादि रहित है ही अतः मनको भी व्यापकता मानना चाहिये अतः उक्त हेतु अनैकान्तिक होनेसे अदर्शनीय है। यदि आप सब जगह न रहना मूर्त और सब जगह रहना अमूर्त मानते हैं तो हेतु भी व्यापकतार्थक है और साध्य भी व्यापकतार्थक है अतः साध्यसम होनेसे पुनः भी हेतु मान्य नहीं कहा जा सकता। व्यापकताका बहुत खंडन

अनादि सिद्ध है तनुकरण भुवनादिके बनानेका निमित्त होनेसे, तनुकरण भुवनादि ईश्वर हेतुक हैं कार्य होनेसे, इस अनुमान मालासे वे आत्माको सदा मुक्त सिद्ध करते हैं लेकिन जिस तरह मकानकी कमजोर नीव खुद ही नहीं गिरती है बल्कि और अपने ऊपरके मकानको भी लेकर गिरती है उसी तरह कार्यत्व हेतु असिद्ध होकर आत्माके कर्मरहितत्वका पतन करा देता है क्योंकि कार्यत्वका आपको क्या अर्थ अभीष्ट है। १ स्वकारण सत्ता समवाय, २ अभूत्वाभावित्व, ३ अक्रियादर्शिनोऽपिकृतबुद्धयुत्पादकत्व, ४ कारणान्तरानुविधायिन्य, इन चार विकल्पोंके और भी उत्तरविकल्प बहुतसे होते हैं। विशतया प्रमेयकमलमार्तण्डमें खण्डन किया है। यहां लेख वृद्धिके भयसे नहीं लिखा जाता है अतः आत्माको अकर्मकताकी सिद्धि नहीं होती। सांख्य मुक्तात्माको सुख रहित मानते हैं। पहिले इसका खंडन किया जा चुका है इसीलिए आचार्यने शुद्ध जीवके लक्षण प्रतिपादन करते समय प्रीतीभूत विशेषण दिया है। मस्करी मुक्त जीवका पुनः आगमन मानते इसीका निषेध करनेके लिए आचार्यने निरञ्जन विशेषण दिया है। बुद्ध व योगानुमती आत्मको क्षणिक तथा निर्गुण मानता है इसीको निषेध करनेके लिए आचार्यने नित्य विशेषण दिया है। ईश्वरवादी ईश्वरको कर्तृत्व मानते हैं इसके निषेधके लिए कृतकृत्य विशेषण दिया है। मण्डली मतवाले जीवकी हमेशह ऊर्ध्वगति ही मानते हैं इसके निषेधके लिए आचार्यने लोकाग्र निवासी ऐसा विशेषण दिया है।

इस उक्त प्रकरणमें जीवकी सिद्धि परमतानुयायियोंके असत्य कल्पित लक्षणके खण्डन पूर्वक की गई है और आवश्यकता भी बतलाई है।

पुद्गलकी आवश्यकता और सिद्धिः

अब अजीवका वर्णन क्रमप्राप्त है अतः उसका वर्णन करना चाहिये।

अजीवके पांच भेद हैं—१ पुद्गल, २ धर्म, ३ अधर्म, ४ आकाश, ५ काल। अब प्रत्येकका वर्णन कहते हैं। इन पांच भेदोंका प्रथक् प्रथक् वर्णन करना ही अजीवका वर्णन होगा क्योंकि अवयवके वर्णनसे अवयवीका वर्णन हो जाता है जैसे तना, शाखा, टहनी, पत्ता आदि वृक्ष सम्बन्धी अवयवोंका वर्णन करना ही वृक्षका वर्णन है।

पुद्गल द्रव्यका लक्षण "स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः" ऐसा किया है। जो स्पर्श, रस, गन्ध, वर्णसे सहित हो उसे पुद्गल कहते हैं।

पूरयन्ति गलयन्ति इति पुद्गलाः यह पुद्गल शब्दकी निरुक्ति है।

स्पर्शादिकी निरुक्ति निम्न प्रकार है। "स्पृश्यते स्पर्शः, यानी जो छुआ जाय, इसी

प्रकार रस्यते रसनमात्रं वा रसः, गन्ध्यते गन्धमात्रं वा गन्धः, वर्ण्यते वर्णनमात्रं वा वर्णः" की निरुक्तियां हैं।

पुद्गल द्रव्य अनन्तगुण समूह स्वरूप है। यहां भी जीव द्रव्यकी तरह उत्पाद व्यय ध्रौव्यकी सिद्धि होनेसे द्रव्यका लक्षण अच्छी तरह घटित होता है। जीव तथा पुद्गल द्रव्यका अनादिकालसे आपसमें सम्बन्ध होता चला आ रहा है जैसे कि सुवर्ण जो कि खानसे तुरन्त निकाला जाता है, किट्टिमा कालिमा अंतरङ्ग मलसे लिप्त होता है और अग्नि आदिके संसर्गसे वह मैल दूर कर दिया जाता है उसी प्रकार जब इस जीवके पूर्वोपात्त कर्मोंकी निर्जरा होने लगती है और संवरके बलसे आनेवाले कर्मोंका आना रुक जाता है तब सम्पूर्ण कर्मका क्षय होजानेसे जीवकी मुक्ति होजाती है तो संसारी अवस्थामें जीवकी पूर्वपर्यायका विनाश होनेसे व्यय, नवीन पर्यायके उत्पन्न होने उत्पाद और जीवत्व सदा ही रहता है अतः ध्रौव्य, ये तीनों ही गुण जीव द्रव्यमें अच्छी तरहसे घटित हो जाता है अतः द्रव्यका लक्षण जीव द्रव्यमें सिद्ध होता है।

(शङ्काकार) जब कि कर्मोंके अभाव होनेसे मुक्त जीवोंके शरीर रहता ही नहीं है तब फिर मुक्त जीवमें उत्पादादि कैसे होंगे।

यह भी ठीक कहीं है क्योंकि मुक्त जीवोंके अगुरुलघु गुणके द्वारा षट् स्थान पतित हानि वृद्धिसे उत्पादादि बन जावेंगे।

संसारी जीवोंमें इस तरह भी उत्पाद व्यय ध्रौव्य बन सक्ते हैं।

पुद्गलोंमें पूर्वपर्यायके विनाशसे और उत्तर पर्यायके प्रादुर्भावसे उत्पाद व्यय बन जाते हैं। कभी भी पुद्गलका सर्वथा विनाश नहीं होता अतः ध्रौव्यता भी रहती ही है।

दूसरे जो पुद्गलमें स्पर्श रस गन्ध वर्ण गुण पाये जाते हैं वे सर्वथा एकसे नहीं रहते, स्पर्श कभी कोमलता, कभी कठिनता, उष्णता, शीतता, लघुता, गुरुता, स्निग्धता, रूक्षता इन आठ तरहसे परिणत होता रहता है। रसमें चिरपरा, कडुआ, खट्टा, मीठा, कषायला ये पांच भेद हैं तथा गन्धमें दुर्गन्ध सुगन्ध इस तरह दो। वर्णमें नील, पीत, श्वेत, श्याम, लाल ये पांच भेद हैं। इन बीस भेदोंके सिवाय विस्तारसे उत्तर भेद संख्यात असंख्यात अनन्त भी हो सकते हैं।

(शंका) जब कि लोक असंख्यातप्रदेशी है तो उसमें अनन्त प्रदेशवाला पुद्गल स्कंध कैसे आ सक्ता है।

ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये क्योंकि एक एक आकाशके प्रदेशमें भी सूक्ष्म परिणामसे परिणत अनन्तानन्त प्रदेशी स्कन्ध आ सकता है ऐसा आगममें कहा है। पुद्गल द्रव्यकी शब्द, बन्ध, सौक्ष्म्य, स्थौल्य, संस्थान, भेद, तम, छाया, आतप, उद्योत ये १०

मुख्य पर्याय हैं। भाषात्मक और अभाषात्मक इस तरह शब्द दो तरहके होते हैं। भाषात्मक भी दो भेद वाला १ अक्षरात्मक दूसरा अनक्षरात्मका अक्षरात्मकके प्राकृत संस्कृत देशभाषा आदि अनेक भेद हैं। अनक्षरात्मक भाषा द्वीन्द्रियादिकोंमें और अर्हन्त देवकी दिव्य-ध्वनिमें पाई जाती है। भाषात्मकके सभी भेद परके प्रयोगसे होते है अतः प्रायोगिक है। अभाषात्मक शब्द दो प्रकारके होते हैं। एक प्रायोगिक दूसरे स्वाभाविक। मेघादिककी ध्वनि स्वभाविक होती है और प्रायोगिकके १ तत २ वितत ३ घन ४ शौषिर ये चार भेद हैं। विस्तृत चर्मके शब्दको तत, सितार, सारङ्गी आदिकी आवाज़को वितत, वंश आदिकी ध्वनिको घन, और हवासे जो शंख आदिककी आवाज़ होती है उसे शौषिर कहते हैं।

बन्ध दो प्रकारका है—एक स्वाभाविक दूसरा प्रायोगिक। सूक्ष्मता भी दो तरहकी होती है— एक अनन्त दूसरी आपेक्षिक। स्थूलताके भी यही दो भेद समझना। संस्थान (आकृति) नियत स्वरूप, अनियत स्वरूपसे दो भेद वाला है। भेद पृथक् भावको कहते हैं और वह उत्करपूर्णादि भेदसे ६ प्रकारका है। तम अन्धकारको कहते हैं। छाया आवरणको कहते। जिसकी उष्ण प्रभा हो उसे आतप कहते हैं और यह सूर्य या अग्निसे उत्पन्न होता है। जिसकी प्रभा उष्ण नहीं होती है उसे उद्योत कहते हैं, यह चन्द्रसे उत्पन्न होती है। कहा भी है कि—"आदावो होदि उण्ह साहियपहा"

"उण्हूण वहाहु उज्जो ओ"

अर्थात् उष्णप्रभा सहित आतप और उष्णप्रभा रहित उद्योत होता है, ये पुद्गलके १० भेद हैं।

पुद्गलके इस प्रकारसे भी भेद किये जासक्ते हैं। मूलमें पुद्गल दो प्रकारका है—एक स्कंध दूसरा अणु।

जिसमें उठाना रखना आदि क्रियाओंका व्यवहार हो और स्थूल हो उसे स्कंध कहते। द्व्यणुक आदिमें रूढ़िके वशसे लक्षण विना घटित होते हुए भी स्कंधता मानी गई है। जो सिर्फ एक प्रदेशवाला हो उसे अणु कहते हैं। यह अणु अस्मदादि प्रत्यक्षगोचर नहीं है। सर्वज्ञ भगवान् ही इसे जानते हैं। प्रत्येक अणु छ कोण वाला है और आकाशके एक प्रदेशमें रहनेवाला है। इसमें अत्यन्त सूक्ष्मता होनेसे आदि अंत मध्यकी व्यवस्था नहीं की जा सकती क्योंकि जो ही इसका आदि है वही मध्य और अन्त है जैसे कि किसीके एक पुत्र हो तो उससे पूछा जाय कि तुम्हारा सबसे बड़ा पुत्र कौन है तो वह उसे ही बड़ा छोड़ और मध्यम पुत्र बतलावेगा। पुद्गल द्रव्यकी सिद्धिके लिए सर्वतः प्रथम यह उचित है कि अणुकी सिद्धि कर ली जाय। अणुकी सिद्धि हो जाने पर फिर बड़ासे बड़ा भी स्कन्ध सिद्ध किया जा सकता है। अणु यद्यपि प्रत्यक्षसे नहीं दिखलाई देता तथापि

स्पर्श ये दो गुण मानते हैं और लक्षण उष्णस्पर्शवत्तेजः ऐसा मानते हैं। वायुमें रूप भी नहीं मानते सफ स्पर्श ही गुण मानते हैं और रूप रहित स्पर्शवान् वायु ऐसा वायुका लक्षण कहते हैं। यह इनका मानना अविचारित ही है क्योंकि पृथ्वी आदि अलग पुद्गलसे भिन्न पदार्थ नहीं है। हम देखते हैं कि पृथ्वी रूप जो काठ है वह जलकर अग्नि रूप हो जाता है तथा बारूद दियासलाई आदिमें अग्निका उष्ण स्पर्शवत् लक्षण नहीं भी है तथापि ये जलकर अग्नि रूप ही होजाते हैं और अग्नि बल चुकनेके बादमें फिर पृथ्वी रूप हो जाती है। स्वाति नामक नक्षत्र विशेषमें वर्षा होते समय यदि जल बिन्दु सीपमें पड़ जाय तो वही पार्थिव रूप मोती बन जाती है। जिस आहार मातको हम ग्रहण करते हैं वही पित्तरूप (उदराग्नि) परिणत हो जाती है अतः पृथ्वी आदि स्वतंत्र पदार्थ नहीं माने जा सकते तथा जो अपने पृथ्वीमें स्पर्शादि चारों ही, जलमें गन्ध विना तीन, अग्निमें रूपस्पर्श और वायुमें केवल स्पर्श माना था सो यह भी तुम्हारा मानना न्याय नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जिनमें परस्पर अविनाभाव सम्बन्ध है वे एक दूसरेके विना कभी नहीं रह सक्ते, इनका अविनाभाव किस तरहसे है और पृथ्वी आदिका जीव पुद्गलादि किस किसमें अन्तर्भाव होता है यह हम पदार्थोंकी व्यवस्था जहां निर्णय की है वहां लिख आये हैं अतः यहां पुनरुक्ति, लेख वृद्धि, समयाभाव, और निरर्थक होनेसे नहीं लिखते हैं। आशा है कि इस प्रकरणके जिज्ञासु जहां यह विषय लिखा गया है उन पत्रोंमें देखनेका कष्ट उठावेंगे।

परमाणुकी तरह स्कन्धमें पूर्व अपर अवस्था विनाश उत्पाद होने द्रव्यका लक्षण अच्छी तरह घटित हो जाता है। ध्रौव्यता इनके सर्वथा नाश न होने सदा बनी ही रहती है।

पृथ्वी आदि पुद्गलत्वकी अपेक्षा आदि रहित हैं। उत्पत्तिकी अपेक्षा तो अनादि नहीं कह सक्ते क्योंकि उत्पत्तिवाला सादि ही होता, इस तरह पुद्गल द्रव्यकी आवश्यकता और सिद्धिका विषय समाप्त किया।

सारांश—पुद्गल द्रव्य यदि नहीं होगी तो संसारकी प्राणभूत पदार्थ व्यवस्था नहीं बन सक्ते अतः पुद्गल द्रव्यकी आवश्यकता है। परमाणुके सिद्ध होनेसे पुद्गल द्रव्यकी सिद्धि है ही। अतः जीवद्रव्यवत् पुद्गलद्रव्यको भी मानना चाहिये।

धर्म अधर्मका निरूपण तथा आवश्यक्ता।

उक्त कथनमें पुद्गलकी अच्छी तरहसे सिद्धि की गई है। यहां धर्म अधर्मके विषयमें लिखते हैं—प्रथम धर्मद्रव्यका लक्षण श्री कुन्दकुन्दाचार्यने इस प्रकार किया है—

धम्मत्थि कायमरसं अवण्णगंधं असद्दमप्फासं।
लोगोगाढ पुढ विदुलमसंखादि य पदेसं ॥ १ ॥

अगुरुगलघुगेहिं सया ते हिं अणंते हि परिणदं णिच्चं ।
गदिकिरियाजुत्ताणं कारणभूदं सयमकज्जं ॥ २ ॥
उदयं जह मच्छाणं गमणाणुग्गहकरं हवदिलोये ।
तहजीव पुग्गलाणं धम्मं दव्वं वियाणेहि ॥ ३ ॥

भावार्थ—धर्मास्तिकाय स्पर्श रस गन्ध वर्ण और शब्दसे रहित हैं अतएव अमूर्त है, सकल लोकाकाशमें व्याप्त है, अखण्ड विस्तृत और असंख्यात प्रदेशी हैं, षट्स्थान पतित वृद्धिहानि द्वारा अगुरुलघु गुणके कारण अविभाग प्रतिच्छेदोंकी हीनाधिकतासे उत्पाद व्यय सहित है। स्वरूपसे कदापि च्युत न होनेके कारण नित्य है। गति क्रिया युक्त जीव पुद्गलोंके गमनमें सहायक हैं। आप किसीसे उत्पन्न नहीं हुआ है अतः अकार्य है। जल मत्स्यादिकोंके गमनमें स्वयं न चलकर जैसे सहकारी है उसी प्रकार जीव पुद्गलोंके साथ स्वयं न गमन करता हुवा उनके (जीव पुद्गलके) गमनमें सहकारी मात्र है। यहां यह अवश्य रखना चाहिये कि धर्म अधर्म शब्दका उपयोग इष्ट अदृष्टमें भी आता है। लोकमें पुण्य पापको भी धर्म अधर्म कहते हैं जिसमें कि धरतीति धर्मः न धर्मः अधर्म ये व्युत्पत्तियां हैं। ये धर्म अधर्म शब्द गुणवाचक हैं लेकिन इस कथनगत धर्म अधर्म शब्द द्रव्यवाची हैं।

धर्म द्रव्यका स्वरूप संक्षेपसे यह है कि जीव पुद्गलोंको गमनमें सहकारी मात्र हो वह धर्म, और जो ठहरानेमें जीव पुद्गलोंको सहकारी हो उसे अधर्म द्रव्य कहते हैं। जिस तरह पवन पताका उड़ाता है पानकी नावको चलाती है या मोटर मनुष्यको स्थानान्तरपर पहुंचाती है उसी प्रकार धर्म द्रव्य जीव पुद्गलोंके गमनमें सहकारी नहीं है क्योंकि " निष्क्रियाणि " इस सूत्रसे धर्मादि द्रव्योंको निष्क्रिय बतलाया है। जो स्वयं क्रियायुक्त नहीं वह दूसरोंको क्रिया नहीं करा सक्ता किन्तु धर्म द्रव्य उदासीन निमित्त कारण है। इसी तरह अधर्म द्रव्यकी बाबत भी समझना चाहिये। अधर्मको भी जीव पुद्गलोंकी स्थितिमें उदासीन निमित्त कारणता है।

शंका—जब कि धर्म अधर्म द्रव्य और आकाश द्रव्य क्रिया रहित हैं तो उत्पाद नहीं होना चाहिये, उत्पाद नहीं होगा तो व्यय भी नहीं होगा क्योंकि जो २ उत्पादवाले हैं वे ही व्ययवाले देखे गये हैं। घटादिक जो व्ययवाले नहीं हैं वे उत्पादवाले भी नहीं हैं जैसे कि आत्मा।

अन्यत्र, उत्पादन होना ही व्ययके अभावका सूचक है क्योंकि " कार्योत्पादः क्षय हेतुः " कार्यका उत्पाद है वही क्षयका कारण है। उत्पाद व्यय न होनेसे इनमें द्रव्यका लक्षण घटित नहीं हो सक्ता। यह कहना भी युक्त संगत नहीं है। यद्यपि क्रिया निमित्त उत्पाद यहांपर नहीं भी है तथापि स्वपर निमित्त उत्पाद यहांपर अच्छी तरह घटित हो

जाता है। स्व निमित्त उत्पाद व्यय अगुरु लघु पूर्व षड्रूप गुण हानिसे होता है पर निमित्त उत्पाद व्यय अश्वादिको गति स्थिति अवगाह देनेसे होता है। धर्म अधर्मका सद्भाव उनके कार्य द्वारा किया जाता है क्योंकि कार्यके सद्भावमें कारणका सद्भाव अवश्यंभावी है जैसे कि धूमके सद्भावमें अग्निका होना अवश्यंभावी है। जब कि जीव पुद्गलोंमें गति स्थिति देखते हैं तो उस गति स्थितिका कोई न कोई कारण अवश्य होगा और वह कारण अभी धर्म ही है यानी गतिका कारण धर्म और स्थितिका कारण अधर्म है।

शंका—जब कि गति स्थितिका कारण पृथ्वी भी हो सक्ती हैं तो अदृश्य धर्माधर्मकी कल्पना नहीं करना चाहिये। ऐसा भी नहीं कहसक्ते, क्योंकि पृथ्वी जल आदि आश्रय रूप है अतः गति स्थिति हेतुक विशेष कारण धर्म अधर्म मानना ही चाहिये।

शंका—आकाश द्रव्य सर्व व्यापक है अतः आकाश ही गति स्थितिमें साधारण निमित्त कारण हो सक्ता है। धर्म अधर्म माननेकी पुनरपि आवश्यक्ता नहीं है, ऐसा नहीं कह सक्ते क्योंकि आकाशका अवगाहन उपकार है अन्यका यानी धर्माधर्मका उपग्रह अन्य यानी आकाशका नहीं हो सक्ता अन्यथा किसी भी पदार्थकी सुव्यवस्थिति न हो सकेगी।

अन्यच्च— यदि आकाशको गति हेतुका कारण मानोगे, आकाश अलोकाकाशमें भी है। वहां पर भी इसको गति स्थिति हेतु। प्राप्त होकर जीव पुद्गलोंका गमन हो जायगा तथा च लोकालोकका विभाग नहीं हो सकेगा। अतः मानना चाहिये कि धर्म अधर्म द्रव्य हैं। लोकालोक विभागकी धर्म अधर्मके विना उत्पत्ति न होनेसे यहां लोकालोक विभाग रूप हेतु असिद्ध नहीं है क्योंकि लोकालोक विभागका अनुभावक हेत्वन्तर उपस्थित है। लोक अलोकका विभाग है क्योंकि लोक सान्त है और अलोकाकाश अनन्त रूप है, कोई ऐसा कहे कि लोक सान्त रूप नहीं है सो भी ठीक नहीं है क्योंकि लोक सान्त है सान्त विशेष होनेसे मकानादिककी तरह।

इस तरह लोककी सान्तता सिद्ध हुई। सारांश यह है कि धर्म अधर्मकी सिद्धिके लिये लोकालोक विभागान्यथानुपपत्तिरूप हेतु है। लोकालोक विभागके लोकस्थ सान्तता हेतु है और लोककी सान्तता सिद्ध करनेके लिये स्वतः विशिष्टत्व हेतु है। स्वतः विशिष्टत्व प्रत्यक्षागम्य ही है क्योंकि जो २ स्वतः विशेष विशिष्ट हैं वे २ सान्त हैं और जो २ सान्त हैं वे २ विभाग युक्त हैं। जबकि विभाग सिद्ध हो गया तो इस अनुमानसे धर्म अधर्म है। लोकालोकको अन्यथा (धर्म अधर्मके अभावमें उत्पत्ति न होनेसे) धर्म अधर्मकी सिद्धि हो ही जाती है। अतः धर्म अधर्मका सद्भाव स्वीकार करना ही चाहिये।

आकाश द्रव्यकी आवश्यक्ता और सिद्धिः।

आकाशका लक्षण जीवादिक तत्वोंको अवगाहन देना है अर्थात् जो सर्वव्यापी अखण्डित और सबको अवकाश देनेकी सामर्थ्य वाला है उसे आकाश कहते हैं। लो-

कान्ते धर्माधर्मं द्रव्याण्यवभासौ लोकः यानी जिनमें जीवादि पदार्थ देखे जांय उसे लोक कहते हैं। जहांपर धर्माधर्म द्रव्य नहीं है वहांके आकाशको अलोकाकाश कहते हैं।

शंका—जिस तरह आप धर्माधर्मजीवादि द्रव्यका आधार आकाश मानते हैं तो आकाशका भी आधारान्तर (अन्य आधार) मानना चाहिये या आकाशके सदृश जीवादिकको भी स्व प्रतिष्ठित मानिये, ऐसी शंका नहीं कर सक्ते। क्योंकि आकाश सर्वतो अनन्त है अतः उसको कोई आधारान्तर कल्पित नहीं किया जा सक्ता।

शंका—आधार आधेयभाव पूर्व उत्तर वर्तियोंका होता है तो जब धर्मादिका आकाशमें आधार आधेय भाव है तो पूर्वोत्तर भाव भी पाया जाना चाहिये और ऐसा माननेसे द्रव्योंकी अनादिताका खंडन होता है ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये क्योंकि पूर्वोत्तर वर्तियोंका ही आधार आधेय भाव होना, यह कोई नियम नहीं है। आत्मामें ज्ञानदर्शनादि या घटमें रूप रसादिक इन समसमयवालोंमें भी आधार आधेय भाव देखा जाता है। आकाशमें "अवगाह लक्षणं" "गुणपर्ययवद्द्रव्यं" आदि तीनों ही द्रव्यके लक्षण सम्यक् रीत्या संघटित होते हैं और वह कैसे सो अगाडी दिखावेंगे।

शंका—आकाशका जो अवगाह देना लक्षण किया सो अतिव्याप्तिदोष दूषित है क्योंकि " लक्ष्यतावच्छेदकावच्छिन्न प्रतियोगिताकभेदसामानाधिकरण्यं अतिव्याप्तिः " जिस धर्मसे सहित लक्ष्य होता है, उस धर्मको लक्ष्यतावच्छेदक नामसे कहते हैं और लक्ष्यतावच्छेदकसे अवच्छिन्न है उसे लक्ष्य कहते हैं। यहां लक्ष्यतावच्छेदक आकाशत्व है तथा लक्ष्यतावच्छेदकावच्छिन्न आकाश है और यत्र्यभावः सप्रतियोगिः इस नियमके अनुसार आकाशका प्रतियोगि (प्रतिपक्षी) मकान धर्म अधर्मादि भी जीव पुद्गलोंको अवगाह देते हैं फिर आकाश हीका यह लक्षण कैसे हो सकता।

उक्त शंका नहीं करनी चाहिये। प्रथम तो आपने जो अति व्याप्तिका लक्षण बताया वही ठीक नहीं है क्योंकि मानलीजिए अश्व (घोड़े) का हमने सास्नादिमत्व यह लक्षण किया तो आपका उक्त अतिव्याप्तका लक्षण यहां घट ही जाता है यानी लक्ष्यतावच्छेदका अवच्छिन्न हुआ अश्व उसका जो प्रतियोगी गौ उसमें सास्नादिमत्व रह गया लेकिन अश्वका सास्नादिमत्व लक्षण करना यह असंभव दोष कहा है क्योंकि "लक्ष्यतावच्छेदक व्यापकीभूताभाव प्रतियोगित्वं" ऐसा असम्भवका लक्षण किया है। अश्वका सास्नादिमान् लक्षण करने पर लक्ष्यतावच्छेदक अश्व [illegible] अश्वत्व व्यापकीभूत (यानी अश्वाभाव जिनमें रहे) हुए सब अश्व, उनमें जिस [illegible] रूप प्रतियोगित्व हो सो सास्नादिमत्वका अभाव है अतः अश्वका सास्नादिमत्व लक्षण है वह जिस धर्मको लेकर अति व्याप्ति दोषसे अतिव्याप्त उसी

धर्मका अवलम्बन करके असंभव दोषसे भी दुष्ट है अतः आपको अपने उक्त अति व्याप्तिके लक्षणमें लक्ष्यतावच्छेदक सामानाधिकरण्ये सति इतना विशेषण और मिलाना चाहिये। क्योंकि ऐसा करनेसे अति व्याप्ति और असम्भवमें ऐक्य नहीं आसकता। उक्त उदाहरणमें ही जिसमें कि अश्वका साक्षादिमत्व लक्षण कहा निर्दर्शित अति व्याप्तिका लक्षण बनालेनेसे लक्षण ही नहीं जाता क्योंकि लक्ष्यतावच्छेदकका समानाधिकरण जो लक्ष्य उसमें रह कर फिर जो लक्ष्यतावच्छेदकावच्छिन्न प्रतियोगिमें जो लक्षणका रहना है उसे अतिव्याप्ति कहते हैं। लक्ष्यतावच्छेदक अश्वत्व इसका समानाधिकरणी जो अश्व उसमें साक्षादिमत्व रहकर फिर लक्ष्यतावच्छेदक समानाधिकरण प्रतियोगि गायमें रहता तो साक्षादिमत्व अतिव्याप्त होता लेकिन रहता ही नहीं हैं अतः यहां असम्भव दोष ही आवेगा।

और जब कि आपसे अतिव्याप्तिके लक्षणमें ही गल्ती होती है तो आप आकाशके अवगाहित्व लक्षण कैसे अतिव्याप्त सिद्ध करेंगे।

(**शङ्काकार**)–अस्तु, हमने आपके द्वारा स्पष्ट कराया ही अति व्याप्तिका लक्षण स्वीकार किया किन्तु महाशयजी क्या अति व्याप्तिके विस्मरणसे अशुद्ध लिखे हुए लक्षणको ही शुद्ध करके अति व्याप्ति दोषका निरावरण करना चाहते हैं। इन सबसे तो केवल एक लक्षण ही शुद्ध किया गया, अति व्याप्तिका निराकरण तो हुआ ही नहीं।

आकाशका अवगाहित्व लक्षण मकान धर्म अधर्ममें भी पाया जाता है इसलिए अति व्याप्त है। और दोष दुष्ट लक्षणसे कभी भी लक्ष्यकी सिद्धि नहीं हो सक्ती।

जैनी–आपका उक्त कटाक्ष भी आपकी आत्मदौर्बल्यका प्रदर्शक है। आकाशका अवगाहित्व लक्षण प्रधान है। पृथ्वी धर्म अधर्मादिके अन्य अन्य लक्षण हैं जैसे पृथ्वीका स्पर्श रस गन्ध वर्णवत्व, धर्मका गति हेतुत्व, अधर्मका स्थिति हेतुत्व।

अतः अवगाह देना लक्षण आकाशका ही है। धर्म, अधर्म, पृथ्वी आदि सभीको अवगाह नहीं देते। दूसरे अवगाह देना इनका लक्षण भी नहीं है अतः आकाशके अवगाहित्व लक्षणमें शंका नहीं करना चाहिये।

यदि आकाशका लक्षण अवगाह देना ही है तो अलोकाकाशमें तो अन्य द्रव्योंका अभाव है अतः वहां अलोकाकाश किसीको भी अवगाह नहीं देता अतः आकाशके लक्षणमें अव्याप्ति दोष आता है क्योंकि लक्ष्यतावच्छेदक समानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं ऐसा अव्याप्तिका लक्षण माना है सो यहां अच्छी तरहसे घटित होता है। यहां लक्ष्यतावच्छेदक आकाशत्व है, तथा आकाशत्वका समानाधिकरणी हुआ आकाश, उसके अत्यन्ताभावका प्रतियोगि (यानी लक्ष्यका कुछ भाग)में लक्षणके रहनेसे अव्याप्ति दोष आता है सो यहां आकाशके कुछ भाग यानी लोकाकाशमें तो यह द्रव्यका लक्षण जाता है,

अलोकाकाशमें नहीं जाता अतः अव्याप्ति दोष दुष्ट होनेसे द्रव्यका लक्षण अलोकाकाशमें द्रव्यत्व नहीं सिद्ध करसक्ता।

ऐसी शंका भी नहीं करना चाहिये क्योंकि अलोकाकाशमें अन्य द्रव्य ही नहीं है जिसको कि आकाश अवगाह दे। यदि किसी बड़ेमें पानी न रक्खा जाय तो घटका जल धारण धर्म नष्ट नहीं हो सकता उसी प्रकार यह दोष आकाशका नहीं है।

(शंका) जबकि अलोकाकाशमें काल द्रव्य ही नहीं है तो वहां वर्तना नहीं हो सक्ती। वर्तनाके विना उत्पाद व्ययका व्यवहार नहीं हो सक्ता और न नित्यताका ही व्यवहार हो सक्ता है अतः वहाँ द्रव्यका लक्षण ही संघटित नहीं होता अतः यातो अलोकाकाशको द्रव्य श्रेणीसे अलग कर देना चाहिये नहीं तो द्रव्यका लक्षण अव्याप्ति दोष दुष्ट मानना चाहिये। अलोकाकाश द्रव्यकी श्रेणीसे अलग तो किया नहीं जा सक्ता क्योंकि आकाशका विशेष भेद है। विशेष विना सामान्य रह नहीं सक्ता। यदि अलोकाकाशको द्रव्यकी श्रेणीमेंसे अलग कर देंगे तो आकाशका भी अभाव हो जायगा, आकाशके अभाव होनेपर अवगाह देनेकी शक्ति युक्तद्रव्यका अभाव होवेगा फिर धर्म अधर्म आदि कहांपर ठहरेंगी। तथा च सात नरक घनोदधिवलयके ऊपर हैं। घनोदधि वलय, घनवात-वलयके ऊपर है और घनवातवलय आकाशके ऊपर है और आकाश स्वयं स्वप्रतिष्ठित है। इस सबका अन्य कारण आकाश ही है फिर आकाशका अभाव होनेसे यह सब व्यवस्था कैसे बनेगी।

ऐसी शंका नहीं करना चाहिये। क्योंकि आकाशमें द्रव्यका लक्षण सुघटित ही है जैसे एक बड़े बांसके सिरेपर कुछ आघात करनेसे सब बांसमें उसकी आवाजसे क्रिया हो जाती है। बांसके एक होनेसे तथैव आकाशमें भी कथञ्चित एकत्व है अतः वहां भी एक देशीय आकाशमें उत्पाद व्यय ध्रौव्य हो जायगा यानी लोकाकाशके आकाशमें काल द्वारा वर्तना है अतः उत्पादादि भी होंगे। उसी उत्पादादिका संबंध अलोकाकाशके आकाशमें भी हो जायगा। द्रव्य लक्षणके सुघटित होनेसे आकाशमें द्रव्यता सिद्ध हो गई अतः उक्त कोई दोष नहीं आसक्ता, आकाशके सद्भावका विनिश्चायक यही प्रमाण है कि सभी शब्दोंके वाच्य अवश्य हुवा करते हैं। अतः आकाश शब्द जब प्रसिद्ध है तो उसका अभिधेय अवश्य मानना चाहिये।

शंका—क्या जो २ शब्द हैं उन सभीके कुछ न कुछ वाच्य अवश्य हुआ करते हैं? यदि ऐसा है तो वन्ध्या पुत्र खरविषाण इनका भी कुछ न कुछ वाच्य होना ही चाहिये, ये कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि वन्ध्या पुत्र इतना समस्त कोई पद नहीं है पृथक हैं और पृथक २ अभिधेयोंकी उपलब्धि भी होती है। अब कोई ऐसी शंका करे कि आकाश तो सर्वव्यापक है उसमें उत्पाद व्यय ध्रौव्य कैसे होंगे

यह कहना भी अविचारितरम्य ही है क्योंकि आकाश जब नित्य है तो ध्रौव्यता तो उसमें सदा बनी ही रहेगी। उत्पाद व्यय अगुरुलघुगुणकी अपेक्षासे हो जायेंगे। द्रव्योंमें उत्पाद व्यय दो प्रकारसे होते हैं। एक स्व प्रत्यय और दूसरे पर प्रत्यय। अनन्त अगुरु लघु गुणोंके द्वारा षट स्थान पतित वृद्धि हानिसे पूर्व अवस्थाके अभाव होनेको स्वद्रव्य व्यय कहते हैं और पहिलेकी तरह आगेकी पर्यायका आविर्भाव होनेपर स्व प्रत्यय व्यय कहते हैं पर प्रत्यय उत्पाद व्यय तो सुलभ ही हैं। यानी आकाश बहुतसी आकाश रूप परिणत बहुतसे जीवादिकोंको अवकाश देता है जब कि द्रव्य जिनका कि आकाशमें अवगाह होता है अनेक रूप हैं तो आकाश भी अपनी प्रथक २ शक्तियों द्वारा उन अनेक रूपजीवादिकोंको अवकाश देता है अतः अनेक रूपता आकाशको सिद्ध ही हैं। कोई २ "शब्द गुणकमाकाशं" यानी शब्द है गुण जिसका ऐसा आकाश है, ये आकाशका लक्षण मानते हैं। नैयायिक लोग शब्दको गुण मानते हैं। अपने चोवीस (२४) गुणोंकी संख्याके अन्दर शब्द नामक एक गुण है जिसका कि लक्षण "श्रोत्र ग्राह्यो गुणः" "श्रोत्र ग्राह्यत्वेन गुणवत्वं शब्दस्य लक्षणं" श्रोत्र ग्राह्यत्व विशेषण देते तो रूपरसादि गुण हैं अतः यहां अलक्ष्यमें शब्दका लक्षण जानेसे अति व्याप्ति दोष होता। और यदि श्रोत्र ग्राह्यत्व मात्र कहते तो शब्दत्व भी श्रोत्र ग्राह्य है किन्तु गुण न होनेसे शब्द नहीं कहा जासकता।

इस ताह शब्दका लक्षण मानकर नैयायिक शब्दगुणवाला आकाश है ऐसा कहते हैं किन्तु शब्द पौद्गलिक है यह हम पहिले सिद्ध कर आये हैं।

अतः जब कि शब्दको पुद्गलता है तो उसे गुण नहीं कह सकते। यदि द्रव्य भी गुण कहेंगे तो द्रव्य गुणमें संकर हो जायगा। इस लिए शब्द गुणवाला आकाश नहीं होसक्ता अतः जैनियोंका माना हुआ आकाशका लक्षण स्वीकार करना चाहिये सर्वत्र निर्विवाद होनेसे।

सारांश—वाच्यसे वाचककी सिद्धि होती है अतः आकाश वाच्यसे आकाश वाचककी सिद्धि हो ही जायगी और उपयोगीता उसकी अवगाह दानसे सिद्ध होती है। यदि आकाश माना जाय तो सभी द्रव्योंको निराश्रयताका प्रसङ्ग हो जायगा अतः आकाशको मानना ही चाहिये।

अब कालकी सिद्धि और आवश्यक्ता बतलाते हैं।

काल द्रव्यका स्वरूप पूर्वाचार्योंने यह दिखलाया है कि जो सब द्रव्योंके वर्तनामें उदासीन कारण हो उसे काल द्रव्य कहते हैं। जैसे धर्म और अधर्म द्रव्य पुद्गलों और जीवोंकी गति स्थितिमें बलात्प्रयोजक नहीं हैं उसी तरह काल भी बलात्कारसे किसी द्रव्यमें वर्तना

(परिणमन) नहीं करता जैसे कि गाड़ीके नीचे लगे हुवे पहिये स्वयं गाड़ीको नहीं खींच ले जाते बल्कि गाड़ी बैल आदिकोंसे खींची जाती है तो पहिले गाड़ीके चलनेमें उदासीन कारण हो जाते हैं। उसी प्रकार कालके वर्तनाकी दशा है। लोकाकाशके एक२ प्रदेशके ऊपर रत्नकी राशिके समान एक२ कालका अणु स्थित है।

उक्तं च—लोयायास पदेसे इक्केके जे ठियाहु इक्केका।
रयणाणं रासीमिव ते कालाणु असंख दव्वाणि ॥१॥

द्रव्यके जो दो या तीन लक्षण पहिले कहे थे वे दोनों ही काल द्रव्यमें अच्छी तरह घटित हो जाते हैं। काल द्रव्यमें अगुरु लघु गुणकी अपेक्षा षट् स्थान पतित और हानि वृद्धिसे उत्पाद और व्यय होते हैं। समय २ के अनन्तर कालमें भूत भविष्यत् वर्तमानका व्यवहार होता है। कुछ समयके बीत जानेसे (विनाश हो जानेसे) भूत कालका व्यवहार होता है। और तात्कालिक उत्पाद होनेसे वर्तमानका व्यवहार होता है और अनागतकी अपेक्षा भविष्यका व्यवहार होता है। इस तरह उत्पाद व्यय हो जाते हैं और कालपनेका सभी कालोंमें व्यवहार होता है अतः ध्रौव्यता है ही इसलिये सद् द्रव्य लक्षण घटित हो ही जाता है। कालके साधारण गुण चेतनत्व सूक्ष्मत्व आदि हैं और असाधारण वर्तना हेतुत्व है। भूत वर्तमान आदि ये सब कालकी पर्याय हैं अतः द्वितीय द्रव्यका लक्षण "गुणपर्ययवद्द्रव्यं" यह भी घटित ही है। कालमें भूत भविष्यत आदिका व्यवहार होता है अतः कालको अप्रदेशी और अनन्त समयवाला माना है।

शंकाकार—जब कि आप वर्तना कराना कालका लक्षण मानते हैं तो कालको सक्रिय मानना चाहिये यह उनका कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि यहां निमित्त मात्रमें हेतुकताका व्यवहार है जैसे चश्मा मुझे दिखलाता है, या कण्डेकी अग्नि मुझे पढ़ाती है, इत्यादिमें कालका व्यवहार होता है। संसारमें भी मुखका समय मध्याह्न (दोपहर)का समय बाल्य समय ऐक्यप्रेसका समय पैसिंजरका समय इत्यादि जो व्यवहार होता है वह कालके सद्भावमें ही मुख्यतया होता है। दूसरेके द्वारा अवगतया दूसरेको ज्ञान करानेवाली जो क्रिया विशेष उसको काल कहते हैं। जिस २ में कालका लक्षण जाय उसे २ द्रव्य मानना चाहिये इसलिये अनायास कालको द्रव्यता सिद्ध ही है। नैयायिकोंने कालका लक्षण "अतीतादि व्यवहार हेतुः कालः" ऐसा माना है।

शंकाकार—अतीतादिका व्यवहार करानेवाला आकाश भी है अतः आकाशको भी कालका लक्षण मानना चाहिये। क्योंकि आकाशके बिना अतीतादि शब्द नहीं बोले जा सक्ते अतः उक्त काल द्रव्यका लक्षण अति व्याप्ति दोष दुष्ट होनेसे प्रमाणीक नहीं माना जा सक्ता ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये। व्यवहार हेतु शब्दका अर्थ निमित्त मात्र लेना चाहिये। कण्ठ तालु आदि जो अतीत आदि शब्दोंके अभिव्यंजक हैं उनसे भी अतिव्याप्ति

नहीं दे सक्ते क्योंकि यहां अतीतादि व्यवहार हेतु शब्दका अर्थ निमित्त मात्र ही है, कालकी सिद्धिमें और भी बहुतसे प्रमाण दिये जा सक्ते हैं। यह कालकी ही महिमा है कि नियत समयमें प्रकृतिका नियत कार्य होता है। चैत्र वैशाख ज्येष्ठमें ही आम आते हैं। मक्का सीमन मादोंमें ही पकती हैं आदि २।

यदि समय कुछ भी चीज न होती तो जो चीज जब चाहे उपज आती। समय न होता तो १० ही मह बाद स्त्रीके बालक नहीं पैदा होना चाहिये। वर्षा भी नियत समय पर नहीं होना चाहिये तथा जो आम्र, निम्ब, केला, जामुन, सेव, बेर आदि फल उत्पत्ति समयमें जैसे होते हैं उसी तरह हमेशह रहना चाहिये। बच्चा भी जैसा उत्पत्ति समयमें होता है वैसा ही रहना चाहिये तथा वृक्ष आदि जितनी भी वस्तुयें उत्पत्ति अवस्थासे आगे २ वृद्धिको प्राप्त होती है वे सब पूर्व अवस्थामें ही रहनी चाहिये अतः ऐसी स्थिति होनेपर संसारके बहु भागका आघात हो जायगा इसलिये काल द्रव्य अवश्य मानना चाहिये। यह काल द्रव्यका व्यवहार सूर्य चन्द्र आदिकी गति हेतुक है। सूत्रकारनी ने भी कहा है " तत्कृतःकाल विभागः " यानी सूर्य नक्षत्र आदिकी गतिसे कालका विभाग होता है। संसारकी स्थिति जो प्रथम कालमें थी वह इस पंचम कालमें नहीं है और जो इस कालमें है या होगी वह षष्ठम कालमें नहीं होगी अतः इन सबमें भेद विनिश्चायक कालकी सिद्धि होती है। कालके दो भेद हैं व्यवहार काल और परमार्थ काल। व्यवहार कालके भूत वर्तमान भविष्य इस तरह तीन भेद होते हैं इस तरह कालकी प्रमाणता और सिद्धि जानना चाहिये। इस निबन्धके निर्माणका यही तात्पर्य है कि सम्यक् पदार्थ व्यवस्था सदा ही स्थितिको प्राप्त हो।

इस प्रकार इस लेखमें निम्न रूपसे पदार्थ व्यवस्थाका निरूपण किया है। प्रथम २ दूसरोंके द्रव्य लक्षणकी सुचारुता अप्रमाणीक सिद्ध करके आर्हतमतानुयायियोंके द्रव्य लक्षणकी सिद्धि की है इसके पश्चात्पर स्वीकृत द्रव्य संख्याकी न्यूनाधिकता होनेसे संख्याभास बताकर जैनियों द्वारा स्वीकृत संख्याकी प्रमाणता सिद्ध की है तदनन्तर अन्यमतानुयायियोंकी द्रव्योंका लक्षण सदोष सिद्धकर स्याद्वादियोंके इष्टित जीवादि षड्द्रव्योंका विषद निरूपण किया है।

यदि समाजका कुछ भी इस लेखसे उपकार हुआ तो मैं अपना श्रम सफल समझूंगा।

श्री सारसान अगार स्वामी बीनती हमरी यही।
शुभ ज्ञान हमको दीजिये अरु शान्तिमय कीजे मही॥
कर्तव्यमें निष्ठा सभीकी होय श्रीमन् सर्वदा।
अन्याय अत्याचारका उत्पाद नहिं होवे कदा॥१॥
शान्तिका साम्राज्य हो अरु नाश अत्याचारका।
सबके दिलोंमें भाव हो सत नीति धर्म प्रचारका॥२॥

षट्द्रव्यका आवश्यकता और उनकी सिद्धि।

जैन साहित्य सभा लखनऊका लेख नं० २

(लेखक:—पं० अजितकुमार शास्त्री—मुंबई)

दुःखहार—पालागिलागा विधिको नथाया, संसारका ताप सभी मिटाया।
शान्तेशाली पदुवार तरे, मेरो प्रभो! ये दुखपुंज सारे॥

विषवर सज्जन समाज!

यह संसार एक महासागर है जिसके अगाध जलमें दृश्यमान नाना प्रकारके अनेक जन्तु संसारकी क्षारतासे, कषायानलकी तीव्र उष्णतासे तथा पारस्परिक कलहकी वेदनासे एवं सदावह महाकल्लोलोंके संघट्टसे अहर्निश पीडाको सहन करते हुए इधरउधर भटक रहे हैं किन्तु उस अपार पारावारकी शांतिदायिनी तटभूमिको न पानेसे उसी दुःखभारमें दबे हुए और भी अधिक तडपते रहे हैं। अथवा यह जगत एक महाउपवन है जिसमें चेतन तथा अचेतन दो प्रकारके वृक्ष लगे हुए हैं। जिस प्रकार अचेतन पौधे अनेक प्रकारके हैं तैसे चेतन वृक्ष भी विविध प्रकारके लगे हुए हैं। कोई महा उन्नत हैं, कोई लघु आकारके हैं। एवं कोई रमणीय मनोहर हैं और कोई महा असुन्दर हैं।

सारांश यह है कि यह संसार एक विशाल आश्चर्यमय या अजायबघर है जहां पर अनेक प्रकारके समस्त पदार्थ एकत्रित किये गये हैं। अस्तु।

अब विचार इस विषय पर करना है कि जिसको सभी लोग जगत कह रहे हैं वह जगत वस्तुतः क्या पदार्थ है? और उसमें कितने प्रकारके पदार्थ विद्यमान हैं?।

जिस समय परीक्षामवनमें हम पहिला प्रश्न उपस्थित करते हैं उस समय हमको चारों ओरसे एक स्वरमें यही उत्तर मिल जाता है कि "दृश्यमान तथा अनेक प्रकारसे ज्ञायमान नाना पदार्थोंका समुदाय ही जगत है" यद्यपि इस उत्तरके विशेष विशेष अंशोंमें पारस्परिक अनेक विवाद हैं किन्तु सामान्य उत्तर समस्त पुरुषोंका समान ही है। अस्तु।

परन्तु जिस समय द्वितीय प्रश्न उपस्थित किया जाता है उस समय हमको अनेक उत्तर नाना प्रकारसे प्राप्त होते हैं। इस कारण इस विषयका पता लगजाता है कि इन सभी उत्तरोंमें या मन्तव्योंमें सभी मंतव्य यथार्थ नहीं हैं किंतु यदि ठीक होगा भी; तो एक मंतव्य ही ठीक होगा। शेष सभी मत अयथार्थ (गलत) होंगे। अस्तु।

आज हम अपना अमूल्य समय इसी परीक्षामें व्यतीत करते हैं जिसका एक ऐसा मनोहारी फल निकलेगा जो कि हमको अपूर्व, अनुपम तथा महा आनंद प्रमोद प्रदान करेगा जिससे कि हमारे समयकी बहुमूल्यता हमको अपूर्वता भेंट करेगी।

हम सबसे प्रथम इस विषय पर ध्यान देते हैं कि जिन द्रव्योंके भेदोंका हमें निश्चय करना है उनका सामान्य स्वरूप तथा लक्षण क्या है ? तदनन्तर हम परीक्षक बनकर सारासारका विचार कर सकेंगे ।

बहुत अनुसंधान करनेपर इन उपर्युक्त शंकाको दूर करनेके लिये हमको सारभूत द्रव्यका लक्षण यह प्राप्त हुआ है कि " जो गुण तथा पर्याय स्वरूप हो वही द्रव्य है " य नी गुण और पर्यायका जो आश्रय है वही द्रव्य है । यहां पर यह ध्यानमें रखना चाहिये कि गुण और पर्याय ऐसे नहीं हैं कि द्रव्यसे पृथक् रहकर उसमें फिर आ मिलें हीं किन्तु जैसे वृक्षमें शाखाएं हैं शरीरमें अंग तथा उपांग हैं तथैव द्रव्यमें गुण और पर्याय हैं । अथवा गुण, पर्यायके अतिरिक्त द्रव्य कोई भिन्न वस्तु नहीं है जैसे कि शाखा, पत्ते, फूल, फल आदिके विना वृक्ष कोई भिन्न पदार्थ नहीं है । इनमेंसे "द्रव्यकी सभी अवस्थाओंमें रहनेवाला और अन्य द्रव्योंसे भेद दिखलानेवाला ' गुण, है और उसी गुणकी नवीन २ जो दशाएं हैं वे 'पर्याय' कहलाती हैं । जैसे चेतन द्रव्यमें यदि ज्ञानगुण है तो वह ज्ञान बाल्य, यौवन, प्रौढ तथा कौमार आदि सभी दशाओंमें रहेगा किन्तु उस ज्ञानकी पर्याय प्रतिसमय नवीन नवीन ही होंगी यानी किसी समय पुस्तकरूप वह ज्ञान है अन्य समय घटरूप है तदनन्तर जलरूप है । आदि । यानी ज्ञानगुण जिस जिस नवीन हालतमें होगा उसकी पर्याय भी उसी रूपमें होंगी । इसी लिये सारांश यह निकला कि गुण द्रव्यके साथ सर्वज्ञ रहता है और पर्याय केवल एक ही समय तक रहती है ।

यहां पर यह कह देना आवश्यक होगा कि प्रत्येक द्रव्यमें बहुतसे गुण रहते हैं जिनको किसी प्रकारसे गिन नहीं सक्ते हैं अतएव उनकी संख्या अनंत शब्दसे ही कहेंगे। पर्यायोंकी संख्या भी द्रव्यमें ऐसी ही है । अब इस प्रकार द्रव्यकी परिभाषा हो गई कि "अनंत गुणोंका समुदाय एवं भूत, भविष्यत् तथा वर्तमानकाल संबंधी पर्यायोंका समूह ही द्रव्य है " क्योंकि एक समयमें एक गुणकी एक पर्याय और दूसरे समयमें उसी गुणकी दूसरी पर्याय हो जाती है । किन्तु यह बात ध्यानमें रहे कि गुणोंकी यद्यपि अनेक हालतें होंगी परन्तु उनका स्वरूप नहीं बदलेगा । जैसे मनुष्यकी यद्यपि बालक, युवा आदि अनेक दशा होंगी परन्तु वह उन सभी दशाओंमें मनुष्य ही रहेगा अन्य नहीं होगा ।

हम इसीसे पता लगा सक्ते हैं कि द्रव्य क्या वस्तु है और गुण क्या है ?। अस्तु ।

इसी द्रव्यका यदि अन्य प्रकारसे लक्षण बनाया जाय तो इस प्रकार बनता है कि " जो उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्य रूप है वही द्रव्य है " अर्थात् उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य जिसमें मिलें वह द्रव्य है ।

है, गुणोंकी अपेक्षा ध्रुव (अविनाशी) है। वे महाशय अपनी समझमें भूल करते हैं। क्योंकि द्रव्योंकी पर्यायें जैसे किसी कारण अनित्य अथवा उत्पाद व्ययवाली हैं उसी प्रकार वे ध्रौव्यवाली भी किसी अपेक्षासे हैं और द्रव्योंके गुण जिस प्रकार ध्रौव्यात्मक यानी नित्य मालूम होते हैं। वे ही गुण किसी तरह अनित्य भी दीखते हैं अथवा इसको इस तरह कहना चाहिये कि उत्पादमें व्यय और ध्रौव्य निवास करते हैं। और व्ययमें भी उत्पाद उत्पाद तथा ध्रौव्य रहते हैं एवं ध्रौव्यमें भी उत्पाद, व्यय अवश्य पाये जाते हैं। यह बात इस तरह सिद्ध होती है कि यदि पर्यायमें कुछ भी नित्यता न हो तो वह क्षणभर भी न ठहर सकेगी और इस प्रकारसे पर्याय ही न रह सकेगी। पर्यायमें कुछ न कुछ नित्यता या स्थिरपन है तभी तो आम कभी हरा और कभी पीला दिखाई देता है। मनुष्य कभी बच्चा और कभी युवा दृष्टिगोचर होता है। अन्यथा किसी भी रूपमें न दीखेगा। इसी प्रकार गुण भी यद्यपि किसी अपेक्षासे ध्रौव्यात्मक है परन्तु किसी अपेक्षासे उत्पादव्यय स्वरूप परिणामी भी है क्योंकि यदि ऐसा न होवे तो गुणोंकी सदा एकसी ही हालत दीखनी चाहिये उसमें किसी भी प्रकार हेरफेर न होनी चहिये। आमका रूपगुण सर्वदा हरा या पीला ही रहना चाहिये, बदलना न चाहिये, रस भी खट्टा या मीठा ही सर्वदा रहना चाहिये किंतु ऐसा होना प्राकृतिक नियमके विरुद्ध है। अतएव गुण जिस प्रकार सामान्यतया अपरिणामी (नित्य) हैं। विशेषतया वे ही परिणामी भी अवश्य हैं।

इस सभी जंजालका यही सारांश है कि 'अनंत गुण तथा अनंत पर्यायवाली द्रव्य होती है। इसीको दूसरे ढंगसे ऐसा कह सक्ते हैं कि उत्पत्ति, नाश तथा स्थिर दशाको धारण करनेवाला ही द्रव्य है।

अब द्रव्यका लक्षण तो पूर्णतया प्रमाणरूपी कांटेपर तुल चुका जिससे कि हमको प्रकृत विषयपर विचार करनेका अवसर मिल गया। हमको प्रकरणानुसार प्रथम ही यह विचारना है कि वे द्रव्य कितनी हैं। और कैसे हैं ?। तत्पश्चात् उसी प्रकरणकी अन्य शंका उपस्थित करके उनका निराकरण करेंगे।

जिस समय हम उपर्युक्त प्रश्नों हल करनेके लिये अपनी प्रतिभाको काममें लेते हैं, उस समय हमको ज्ञात हो जाता है कि इस विशाल संसारस्थलमें दो प्रकारके द्रव्य ही उपलब्ध होते हैं। अर्थात् संसारमें जितने भी अनंत पदार्थ हैं वे दो जातिके हैं—एक तो चेतन हैं दूसरे अचेतन।

जिन पदार्थोंमें जानने देखनेकी शक्ति है उनको चैतन्यदशासे सहित होनेके कारण चेतन कहते हैं इनकी ही 'जीव' शब्दसे पुकारते हैं। और जिनमें जानने, देखने,

सुखदुःखके अनुभव आदि चैतन्य शक्तिका विकाश नहीं है वे पदार्थ अचेतन हैं जिनको जड़ या अजीव भी कहते हैं। अस्तु। इन दो प्रकारोंको छोड़कर पदार्थोंकी तीसरी और कोई जाति नहीं है। सभी पदार्थ इन्हीं दोनोंके अन्तर्भूत हैं।

किन्तु पदार्थोंकी ये जातियां भी जड़वादके इस मध्याह्नकालमें कहना असंभवसा हो जाता है क्योंकि इस समय मनुष्योंका बहु भाग इस सिद्धान्तको अटल तथा वास्तविक मान बैठा है कि "संसारमें केवल एक अजीव द्रव्य ही है। जिसको हम लोग जीव कहते हैं वह भी जड़ द्रव्यकी पर्याय है" इसको सिद्ध करनेके लिये वे प्रत्यक्ष, परोक्ष कई प्रकारके प्रमाण तथा दृष्टान्त उपस्थित करते हैं। अस्तु।

कुछ भी हो। यहांपर यह निश्चय नहीं किया जा सक्ता है कि विचारक व्यक्तियोंकी अधिक संख्या जिस मंतव्यको निश्चित करे वही मत यथार्थ होगा और सिद्धान्त भी वही हो सकेगा। क्योंकि संभव है कि वे सब भूलपर होवें और भेड़ियाधसानमें आकर उन मनुष्योंकी संख्या बढ़ गई हो। और उसके विरुद्ध कहनेवाला थोड़े मनुष्योंका समुदाय ही ठीक मार्गपर हो। क्योंकि परीक्षकोंका मार्ग यद्यपि आजकल चौड़ा हो गया है किन्तु कषाय और पक्षपातका भाव अभी तक मनुष्योंके हृदयसे विदा नहीं हुआ है। अन्यथा आर्यसमाज सरीखा कुतर्की जनसमुदाय भी 'सृष्टिकर्तृत्व' सरीखे स्थूल विषयपर न उलझा रहता। अस्तु।

इसलिये जब हमने अपना अनुपम तथा अमूल्य समय विचारनेके लिये प्रदान कर दिया है तब हमारा प्राथमिक कर्तव्य है कि हम इस कंटकको भी अलग कर दें अन्यथा आवागमनके प्रारम्भमें ही मक्षिका छींक देगी जिससे एक पैर भी आगे न चल सकेंगे।

जड़वादको माननेवाले महाशय अपना सिद्धान्त इस प्रकार जमाते हैं कि "संसारमें केवल जड़ द्रव्य ही है। जीव भी इन्हीं अचेतन द्रव्योंके संगसे उत्पन्न हो जाता है। जगतमें पृथ्वी, जल, अग्नि, तथा वायु इन चार द्रव्योंके चार प्रकारके परमाणु भरे हुए हैं। उन्हीं परमाणुओंके परस्पर मिल जानेपर जल, पृथ्वी आदि अनेक प्रकारके पदार्थ बन जाते हैं। जिस प्रकार गुड़, महुवा, धतूरा आदिके मिलापसे गहरा नशा या बेहोशी लानेवाली मदिरा बन जाती है, उसी प्रकार पृथिवी, जल, अग्नि, वायु इन चार भूतके संयोग (मिलाप) होनेसे चेतन शक्ति उत्पन्न हो जाती है जिसको जीव कहते हैं। वास्तवमें जीव नामक कोई पदार्थ अलग स्वतंत्र नहीं है। इसलिये संसार केवल जड़ पदार्थसे ही भरा है" ये लोग इसी कारण ऐसा कहते हैं कि परलोक कोई वस्तु नहीं है। अस्तु।

इस मतको युक्तिशून्य, असत्य सिद्ध करनेके प्रथम उससे संबन्ध रखनेवाला कुछ विषय कह देना आवश्यक होगा जो कि इस प्रकार है।

जिस प्रकारका कारण होता है कार्य भी उससे वैसा ही होता है। अर्थात उपादान कारण जिस जातिका होगा कार्य भी उससे उसी जातिका उत्पन्न होगा। जैसे मनुष्यसे मनुष्य ही उत्पन्न होता है और घोड़ेसे घोड़ेकी ही उत्पत्ति होगी। तथैव चनेका बीज चनेका वृक्ष ही उत्पन्न करेगा और आमके पेड़पर आमका फल ही लगेगा उसपर केश कभी नहीं लगेगा। क्योंकि उस फलका कारण दूसरा ही है। इसलिये यह नियम बन गया कि चनेको चाहे जैसी भूमिमें बोदें और उसमें चाहे जैसा खाद दें किन्तु उससे गेहूं कभी नहीं होगा उससे चना ही होगा। आमके वृक्षपर हजारों प्रयत्न करने पर भी केला उत्पन्न न हो सकेगा।

इससे हमको यह सार मिल गया कि जिस जातिका कारण होगा कार्य भी उससे उसी जातिका उत्पन्न होगा। अन्यथा नहीं।

अब हम अपने प्रकरणपर आते हैं। जड़वादियोंका जो यह कहना है कि "गुड़ धतूरे आदिके मिलापसे जिस तरह शराब बन जाती है जीव भी उसी प्रकार पृथ्वी जलादिक चार भूतोंके मिल जानेपर बन जाता है। यह कोई अलग नया पदार्थ नहीं है" आदि। इस विषयमें हमको प्रथम ही यह देखना है कि शराबमें जो मादक (नशा) शक्ति है वह उसके कारणोंमें है या नहीं है ?। क्योंकि उसके कारणोंमें ही यदि वह शक्ति होगी तब तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं कि शराबसे बहुत गहरा नशा आता है क्योंकि वह नशा उसके कारणोंमें पहलेसे ही था। यदि उन कारणोंमें वह नशा नहीं होगा तो अवश्य ही एक आश्चर्यकी बात ठहरेगी।

शराब बननेके उपादानकारण महुआ, धतूरा, गुड़ तथा एक मादक फलका चून आदि हैं। इन वस्तुओंको यदि प्रथक् प्रथक् ही कोई मनुष्य खावे तो उसको थोड़ा बहुत अवश्य नशा आ जाता है। शिरकी पीडा, बुद्धिका बिगड़ जाना, स्वस्थ दशा न रहना ये सभी बातें केवल एक एक पदार्थको भक्षण करनेसे ही होजाती हैं। यदि इन सबको मिलाकर कोई पाक तयार किया जाय तब तो वह नशा और भी बढ़ जायगा क्योंकि वे सब एक स्थानपर मिल गये हैं। बस यही शराबकी हालत है। जो चीजें प्रथक २ कम नशा लाती थी उन्होंको मिलाकर शराब बना लेनेपर उन वस्तुओंका मद तीव्र हो जाता है। और इसके सिवाय और कोई नवीन बात नहीं होती है। इससे यह सिद्ध हो गया कि शराबके कारण ही मादक हैं, उसमें यदि मादक शक्ति आगई तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं। क्योंकि नशीले कारणोंसे जो पदार्थ उत्पन्न होगा वह नशीला अवश्य होगा। अस्तु।

इसलिये जड़वादियों द्वारा दिया हुआ मदिराका दृष्टान्त तो टूट गया। अब प्रधान विषयपर प्रकाश डालते हैं।

" पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन चार भूतोंके द्वारा जीव उत्पन्न होता है अर्थात

किंतु ऐसा नहीं है। जल, पृथ्वी आदिमें अल्प भी ज्ञानशक्ति नहीं मालूम होती है फिर उनसे बने हुए जीवमें वह शक्ति कहांसे आ सक्ती है ?। आवेगी भी कहांसे ? ये सब कारण तो अचेतन हैं। इस लिये यह सिद्ध हो गया कि ये चारों भूत जीवके सजातीय नहीं हैं किंतु विजातीय हैं। और यह नियम ही है कि जिस जातिका कारण होगा, कार्य भी उससे उसी जातिका उत्पन्न होगा।

इस लिये यह सिद्ध हो गया कि अचेतन भूतोंसे चेतन जीव कभी उत्पन्न न हो सकेगा अन्यथा पृथ्वीसे जल और जलसे अग्नि भी पैदा हो सकेगी जिससे भूत चार प्रकारके ही हैं उनसे पदार्थ भी उसी जातिके उत्पन्न होते हैं, यह उनका सिद्धान्त बिगड़ जायगा। किन्तु होता ऐसा भी है, पार्थिव लकड़ीसे अग्नि, जलसे पार्थिव ओला और दीपककी अग्निसे पार्थिव काजल बन जाता है।

यहां यदि यह कहा जाय कि उन चार प्रकारके पदार्थोंसे शरीर बन जाता है और शरीरमें चेतनशक्ति अपने आप आजाती है अर्थात चेतन शक्ति शरीरका ही गुण है।

यह कहना भी पर्याप्त न होगा क्योंकि यदि ज्ञान शरीरका ही गुण होता तो शरीरके अनुसार ही उसमें कमी बेशी होती किन्तु ऐसा है नहीं, शरीर वैसा ही बना रहता है किन्तु जीवमें बहुतसे विकार हो जाते हैं। शरीर कभी मोटा हो जाता है कभी पतला। किन्तु ज्ञान उतना ही बना रहता है। मृतकका शरीर जैसेका तैसा बना रहता है किन्तु उसमेंसे चेतनशक्ति निकल जाती है। इसके अतिरिक्त जीव यदि शरीरका ही गुण-स्वरूप होता तो शरीरके अनेक खंड कर देने पर सबमें पृथक् पृथक् जीव मिलना चाहिये। जैसे कि घड़ेके अनेक खंड कर देनेपर सबमें मिट्टी तथा उसका गुण अवश्य मिलता है। शरीरके खंडोंमें ऐसी बात मिलती नहीं है।

इस लिये अनेक पुष्ट प्रमाणोंसे अच्छी तरह सिद्ध हो जाता है कि जीव शरीरादिक जड़ पदार्थोंसे भिन्न एक निराला ही पदार्थ है जिससे कि संसारमें केवल जीव तथा अजीव दो ही द्रव्य हैं यह अनायास सिद्ध हो गया।

यहां पर इतना कह देना आवश्यक होगा कि जीव द्रव्यका संक्षिप्त वर्णन भी अधिक समय तथा स्थान चाहता है अतएव उसको यहीं छोड़ देते हैं। इसके सिवाय उसके भेद प्रभेद भी असंख्यात तथा अनंत हैं। उनको भी हम यहां बतलानेमें सर्वथा असमर्थ हैं। अस्तु। किन्तु इतना ध्यानमें रखना चाहिये कि सर्व जीवोंमें गुण तथा शक्तियां समान विद्यमान हैं यह दूसरा विषय है। किसी विशेष कारणवश किन्हीं जीवोंमें कोई गुण थोड़े व्यक्त हैं और कुछ जीवोंमें अधिक प्रगट हैं। सामान्यतया सभी जीव समान हैं।

अब **अजीव द्रव्य** शेष रहा जिसका व्याख्यान आवश्यक तथा अनिवार्य है। अस्तु। जीव द्रव्यको छोड़कर शेष जो भी द्रव्य हैं वे सभी अजीव द्रव्य हैं क्योंकि उन सभीमें चेतनराहित्य अथवा, अजीवत्व भाव विद्यमान है। अतएव सामान्यतया उन सभीको एक जातिका कह दिया जाय तो भी अनुचित न होगा। किन्तु उनको विशेष विशेष, अनिवार्य भेदोंके कारण विपक्त करना ही चाहिये।

अब अपना मानसिक बल इसी पर लगाते हैं कि अजीव द्रव्य कितने प्रकारोंमें विभक्त है अथवा हो सक्ता है।

तब सबसे प्रथम जीव द्रव्यको छोड़ देनेपर जितना भी कुछ दिखलाई देता है वह सभी पुद्गल द्रव्य ही दृष्टिगोचर होता है जिसको कि मूर्तिक द्रव्य भी कहते हैं। संसारमें चर्मचक्षुओंसे तथा इतर द्रव्येन्द्रिय ज्ञानेन्द्रियोंसे जो कुछ उपलब्ध होता है सभी पुद्गल द्रव्य है। यहांतक कि यदि सूक्ष्म विचार न किया जाय तो पुद्गल द्रव्यको छोड़कर जीव द्रव्य भी सिद्ध नहीं होता है। अस्तु।

पृथ्वी, पर्वत, समुद्र आदि जितने भी पदार्थ हैं सभी पुद्गल द्रव्यकी पर्याय है। यहां तक कि जीवद्रव्य जिस घरमें निवास करता है वह शरीर भी पुद्गलमय है। इसलिये इस पुद्गल द्रव्यको सिद्ध करनेका परिश्रम नहीं करना पड़ेगा क्योंकि जन्मान्ध पुरुष भी अपने ज्ञाननेत्रोंसे अथवा अन्य इन्द्रियोंसे सहजमें ही इस द्रव्यसे पूर्ण परिचय हो जाता है।

हां! एक बात अवश्य कहना है जो कि प्रायः अस्पष्ट तथा विवादास्पद है। वह यह है कि जिस प्रकार पुद्गलमें रूप गुण है और वह पूर्णतया स्पष्ट है उसी प्रकार उसके अविनाभावी या साथ साथ रहनेवाले तीन गुण और भी हैं। जिनका ज्ञान नेत्रेन्द्रिय के सिवाय अन्य इन्द्रियोंसे होता है। वे गुण रस, गंध तथा स्पर्श हैं जो कि प्रत्येक पुद्गल पदार्थमें अवश्य विद्यमान हैं।

इसलिये **पुद्गल द्रव्यका** यह लक्षण बनगया कि, "जिसमें रूप, रस, गंध तथा स्पर्श ये चार गुण पाये जाय वह पुद्गल है"। इन चारों गुणोंमेंसे किसी पदार्थमें चारों गुण ही व्यक्त हैं और कुछ पदार्थोंमें कोई गुण ही व्यक्त है शेष अव्यक्त रूपसे रहते हैं। किन्तु यह नियम है कि जहां इन चारोंमेंसे कोई एक गुण होगा वहींपर शेषके तीन गुण भी अवश्य मिलेंगे। यह नियम हमको उन अनेक प्रकारके नाना पदार्थोंके अनुभवसे ज्ञात हो जाता है। जैसे आमको खानेसे उसका मीठा रस मालूम हुआ, सूंघनेपर सुगंध भी उपलब्ध हुई। कोमल, ठंडा, भारी, चिकण, स्पर्श भी पाया गया। इसी प्रकार गुलाबके इत्रमें जैसे सुगंधि उपलब्ध होती है उसका रंग तथा स्पर्श भी उसी प्रकार मिलता है और स्वाद लेनेपर उसमें किसी न किसी प्रकारका रस भी मालूम होता है। हमको जब कि

ऐसा नियम या इन गुणोंका साहचर्य प्रायः सभी अनुभूत पदार्थोंमें मिलता है तब इसी कांटेसे हम सभी पुद्गलीय पदार्थोंका स्वभाव वेरोकटोक यथार्थ जान सक्ते हैं।

अतएव कोई महाशय जो ऐसे सिद्धांत बनाते हैं कि "जलमें स्पर्श रस तथा रूप है, अग्निमें स्पर्श तथा रूप है। तथा वायुमें केवल स्पर्शगुण ही विद्यमान है"। उनका यह सिद्धान्त स्वयमेव फिसलकर धराशायी हो जायगा। क्योंकि जलमें जब कि रस रूप स्पर्श पाये जाते हैं तब उसका अविनाभावी गंध उसमें अवश्य रहेगा। अग्निमें कोई न कोई गंध तथा कोई न कोई रस अवश्य है क्योंकि उसमें स्पर्श तथा रूप मिलता है इसी प्रकार वायुमें भी जब कि शीत या उष्ण स्पर्श एवं वजन पाया जाता है तो उसमें गंध, रूप तथा रस भी अवश्य होने चाहिये। जैसे आमका फल।

बात केवल यही है कि इन पदार्थोंमें कोई कोई गुण मुख्य तथा व्यक्त हैं शेषके गुण उतने तीव्र नहीं हैं किंतु हैं अवश्य। जैसे हींगमें वेलाके तेलमें केवल गंध गुणकी तीव्रता है किन्तु उसमें रस भी अवश्य रहता है, यही दशा उपर्युक्त पदार्थोंकी भी है। इस लिये भले प्रकार यह सिद्ध हो गया कि प्रत्येक पौद्गलिक पदार्थमें स्पर्श, रस गंध तथा रूप ये चारों गुण अवश्य पाये जाते हैं। अतएव प्रत्येक स्थलमें इन गुणोंमेंसे किसी एक गुणके रहने पर अवशिष्टके इतर गुण भी अवश्य रहेंगे। इस पुद्गल द्रव्यका भी व्याख्यान शक्तिसे बहिर्भूत है। अतएव इसके विशेष परिचयसे विराम लेते हैं।

अजीव द्रव्यमें एक प्रकारकी द्रव्य तो सिद्ध हो गई जो कि पुद्गल है। अब उसी अजीव द्रव्यको इतर प्रकार भी खोजना चाहिये।

यह विषय सभीसे सुपरिचित है कि कार्यको देखकर उसके कारणका अनुमान होता है। जैसे वृक्षको देखकर जान लेते हैं कि इसको उत्पन्न करनेवाला प्रथम ही बीज अवश्य होगा। मिट्टीकी छोटी डलीको देखकर पता लगा लेते हैं कि इसको बनानेवाले सूक्ष्म पुद्गल परमाणु हैं। आदि। इसके प्रथम ही यह बात भी ध्यानमें रहे कि प्रत्येक कार्यको उत्पन्न करनेके लिये जिस प्रकार उपादान कारणका उपस्थित होना आवश्यक है उसी तरह निमित्त कारणका होना भी अनिवार्य है। क्योंकि सूत रक्खा भी रहे किन्तु जुलाहा तथा करघा उपस्थित न होगा तो वस्त्र कभी न बन सकेगा। अस्तु।

संसारवर्ती जीव तथा पौद्गलिक सभी पदार्थोंका एक साथ गमन होना किसी बाह्य निमित्त कारणसे ही हो सक्ता है अन्यथा नहीं। जैसे तालाबमें एक साथ इधर उधर घूमनेवाले मछली, मेंढक आदि हजारों जलजंतुओंके आवागमनमें जल निमित्त कारण है उसके बिना उनका गमन नहीं हो सक्ता है। तथैव अनेक जीव पुद्गलोंका ठहरना भी किसी निमित्तके बिना नहीं हो सक्ता है। इसलिये उस निमित्त कारणका होना भी अनि-

(निवास) देनेवाला सर्वव्यापक यदि कोई पदार्थ न होवे तो ये वायु पृथ्वी आदि विशाल परिमाणधारी पदार्थ कहां समावेंगे । इसके अतिरिक्त एक बात यह भी है कि पक्षी जिस समय पृथ्वीसे तथा वृक्ष परसे उड़कर दूसरे स्थान पर जाता है उस समय वह किस आधार पर गमन कर रहा है ? । इसको विचारनेसे यह पता अवश्य लग जायगा। उस समय वहां पर उसके लिये कोई पदार्थ आधार है । यदि इसके लिये वायुको ही उसका आधार बताया जाय तो वही प्रश्न पुनः उपस्थित होगा कि वह वायु कहां भरी हुई है ? । मनुष्योंके चलते समय पैर जिस प्रकार पृथ्वीपर स्थिर हैं उसी तरह उनके शरीरका ऊपरी भाग किस स्थानमें ठहरा हुआ है ? । इन शंकाओंको निराकरण करनेके लिये आकाशद्रव्यको अवश्य मानना पड़ेगा । यही आकाश सर्व द्रव्योंको अवकाश देता है और वह स्वयं स्वप्रतिष्ठित है । क्योंकि आकाशद्रव्यको भी अवकाश देनेवाला उससे बड़ा अन्य कोई द्रव्य नहीं है । अतएव यह सर्वव्यापक है । ऐसा कोई स्थान नहीं जहां आकाश न हो । जहां पोल दिखाई देती है वह सभी आकाश ही है । यह बात जो कही जाती है कि " इस जगतमें सभी पदार्थ भरे हुए हैं " । यह भी आकाशके लिये ही है । क्योंकि जगत सर्व द्रव्योंका समूह ही कहलाता है अतएव सर्व पदार्थोंका निवास आकाशमें ही हो सक्ता है । यद्यपि यह असंख्यात प्रदेशी है किन्तु अवगाहन शक्तिके कारण अनन्त जीव तथा अनंत पुद्गल एवं धर्म, अधर्म, द्रव्य इसमें समा जाते हैं । जैसे जलसे पूर्ण भरे हुए कलशमें यदि एक सेर शक्कर और डाल दी जाय तो वह भी उसमें समा जायगी । फिर भी यदि सौ सुइयां और उसमें डाल दें तो वे भी उसमें आ जायगी। इस लिये सम्पूर्ण द्रव्योंको अवकाश देनेवाला सर्वव्यापक **आकाशद्रव्य** अवश्य है और उसमें जहां तक धर्म, अधर्म, पुद्गलादि द्रव्यें प्राप्त होती हैं वहीं तक जगत है जिसको दूसरे शब्दोंमें लोक या लोकाकाश कहते हैं उसके बाद अलोकाकाश है । यह सप्रमाण युक्तियोंके द्वारा सिद्ध हो गया ॥

इस तरह जीवद्रव्य तथा चार अजीवद्रव्य प्रमाणोंसे सिद्ध हो गई । अस्तु ।

अब हमको यह और अनुसंधान करना है कि " आकाशद्रव्य जिस प्रकार द्रव्योंके लिये अवकाश देता है । जिससे कि उनकी सुव्यवस्थिति है तथैव प्रत्येक पदार्थको परिवर्तन करानेवाला भी कोई द्रव्य अवश्य होना चाहिये । क्योंकि यह हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि एक वस्त्र यदि किसी सुरक्षित स्थानमें भी रखदें तो भी वह कुछ दिन पश्चात अपने आप जीर्णशीर्ण होकर भस्म हो जाता है । वृक्षपर लगा हुआ हरा आमका फल कुछ दिन पश्चात क्यों पीला हो जाता है । छोटा बच्चा कुछ दिनोंके अनन्तर क्यों बड़ा हो जाता है ? आदि ।

अतएव सर्व पदार्थोंका परिणमन करानेवाला एक कोई द्रव्यान्तर अवश्य है यह निश्चय हो गया। उसका नाम "काल" नियत किया है। अस्तु।

पदार्थोंकी नवीन दशासे जीर्ण दशा करते रहना काल द्रव्यका प्रधान कार्य है। अर्थात् स्वयं परिणमन करनेवाले पदार्थका निमित्तकारण काल है। इसके लिये यदि कोई महाशय समाधान उपस्थित करें कि "पदार्थोंको नवीनसे पुराना बनानेमें घड़ी, घंटा, दिन आदि कारण हैं कालको एक और द्रव्यान्तर स्वीकार करना व्यर्थ है"।

तो विचारके सन्मुख उनकी यह शंका भी नहीं ठहरती है। क्योंकि घड़ी, घंटा, दिन, वर्ष आदि सभी व्यवहार हैं। क्योंकि जिस प्रकार "एक मनमें चालीस सेर होता है" यह एक व्यावहारिक बात ही है क्योंकि कार्य चलानेके लिये वैसा मान लिया है तथैव व्यवहारके लिये ऐसा मान रखता है कि सूर्य पूर्वसे पश्चिममें जबतक पहुँचे उतने समयको दिन कहते हैं और उसमें बारह घंटे होते हैं। एक घंटेमें साठ मिनट या ढाई घड़ी होती हैं। आदि। क्योंकि यदि कार्य चलानेके लिये हम घंटेको पैंतालीस मिनटका निश्चय करलें जैसा कि प्रायः स्कूलोंमें किया जाता है तब भी वह घंटा ही रहेगा। पौन घंटा न होगा। इस कारण यह सभी व्यवहार काल है। अतएव वास्तविक काल द्रव्य अवश्य विद्यमान है। क्योंकि जैसे व्यवहारके लिये पाषाणमूर्तिको सिंह तभी कहसके हैं जब कि सिंह नामक यथार्थ कोई पदार्थ अवश्य हो। इसी प्रकार घंटा, घड़ी, समय आदि तभी कहा जाता है जबकि कोई असली काल पदार्थ है। उसीसे कार्य चलानेके लिये अनेक प्रकारके अनेक संकेत बना लिये हैं। यह व्यवहारकाल पदार्थोंके पर्याय बदलनेसे, सूर्य, चन्द्रादिकी गमन आदि क्रियाओंसे, समयानुसार पदार्थोंके छोटेपन और बड़ेपनसे जाना जाता है। और निश्चय या यथार्थ अथवा वास्तविक काल द्रव्यके विना यह व्यवहारकाल सिद्ध नहीं हो सक्ता है। इसके अतिरिक्त एक यह भी समाधान है कि जगतमें ऐसी कोई भी एकाकी (अकेला) या असमस्त (समासरहित) शब्द नहीं है जो कि किसी पदार्थका वाचक न होवे अर्थात संसारमें जितने भी शब्द उपलब्ध होते हैं सभीके वाच्य पदार्थ अवश्य विद्यमान हैं। जैसे खरविषाण, या आकाशपुष्प ये शब्द यद्यपि किसी पदार्थके वाचक नहीं हैं। किन्तु इनके पृथक् पृथक् पद अवश्य ही किसी पदार्थके कहनेवाले हैं। क्योंकि आकाश भी जगतमें एक पदार्थ है ही। और पुष्प भी वृक्षोंपर विद्यमान ही है। इसी प्रकार संसारमें 'काल' शब्द भी मिलता है तब इसका भी कोई न कोई वाच्य अवश्य है यह नियमानुसार स्वीकार करना पड़ेगा। इसी कालकी सबसे छोटी पर्याय समय कहलाती है। इसी समयके अनुसार प्रत्येक पदार्थका सूक्ष्म परिणमन होता रहता है। काल द्रव्यके अणु (सबसे छोटे खंड) लोकाकाशके प्रत्येक प्रदेश पर पृथक् पृथक् स्थित हैं इसी कारण कालद्रव्य अन्य

द्रव्योंकी तरह कायवाला नहीं है। क्योंकि आकाश द्रव्य अखंड है। इसीलिये लोकाकाशमें विद्यमान काल द्रव्यके द्वारा अलोकाकाशका भी परिणमन होता रहता है। जिस तरह आकाश द्रव्य स्वप्रतिष्ठित है तथैव कालद्रव्यके परिणणनमें भी अन्य द्रव्य सहकारी नहीं है।

इस प्रकार प्रमाणिक युक्तियोंके बलसे काल द्रव्य सिद्ध हो गया जो कि द्रव्योंकी द्रव्यतामें प्रधान कारण है। अस्तु।

इस तरह अजीव द्रव्यकी पांच जातियां सिद्ध हो गई अधिक नहीं। क्योंकि उनके लक्षण तथा प्रधान गुण भिन्न भिन्न हैं। किन्तु जीव द्रव्यकी अन्य कोई जाति नहीं है। कारण यही है कि समस्त जीवोंके लक्षण, गुण,, स्वभाव सामान्यतया समान ही है अतः कहना पड़ेगा कि द्रव्य ६ छह हैं। समस्त जग जंजाल इन्हीं छह विभागोंमें विभक्त है। अतएव द्रव्यें न तो सात, आठ आदि अधिक हैं और न छहसे कम ही हैं इसका कारण यह है कि इन छह द्रव्योंके सिवाय अन्य कोई पदार्थ शेष नहीं रहा इस लिये तो अधिक मानना व्यर्थ है। और यदि इन छहसे कम स्वीकार करें तो संपूर्ण पदार्थ न आ सकेंगे। अतएव जगतमें द्रव्य छह ही हैं।

माननीय महाशयों! यद्यपि षट् द्रव्यकी आवश्यकता तथा सिद्धि, संक्षिप्त रूपसे भी बहुत संकुचित है क्योंकि यह विषय समुद्रके समान गंभीर तथा सुमेरुके समान उन्नत अथवा आकाशके समान विस्तृत है। किन्तु आपके समयानुसार यही पर्याप्त होगा। क्योंकि विज्ञ महोदयोंके लिये सारांश ही प्रमोददायक होता है। अतएव लेखनीका पर्यटन इसी स्थलपर समाप्ति भूमिको प्राप्त करके कृतकृत्य होता है।

आवेदक-अजितकुमार शास्त्री, बंबई।

सिद्धांत ग्रंथ श्री गोम्मटसारजीकी बडीटीका।

श्रीमन्नेमिचंद्रजी सिद्धांतचक्रवर्ती कृत मूल प्राकृत गाथा व संस्कृत छाया व दो बड़ी टीकाओं सहित व स्व० पं० टोडरमलजी कृत बड़ी हिन्दी टीका सहित यह ग्रंथराज छह खंडोंमें विभक्त किया गया है। पहला दूसरा खंड जीवकांड १७) तीसरा, चौथा, पांचमा कर्मकांड २४) रु० और छठवां लब्धिसार क्षपणसार १२॥) अब ग्रंथ पूर्ण हो गया है अतः जिन २ महाशयोंने १ या २ या ३ खंड मंगाये हैं उन्हें ४-५-६ खंड मंगाकर अपना ग्रंथ अवश्य पूर्ण कर लेना चाहिये। अधूरे ग्रंथसे कुछ लाभ नहीं। यह ग्रंथ प्रत्येक मंदिर, पाठशाला व ग्रहस्थके घरमें रहना चाहिये। छह खंड १ साथ मंगानेवालोंको ५१)में रु० दे दिया जायगा। पृ० संख्या ४१०० व श्लोक संख्या अनुमान १,२९०००के हैं।

मैनेजर दि० जैन पुस्तकालय-सूरत।

धर्म जानते हुए भी संपूर्णतया न कह सके उन अनंत गुणात्मक द्रव्योंका कथन करनेके हेतु मैं तुच्छमति होकर भी लेखनी ग्रहण करता हूं यह देख विद्वान् लोग मुझे पागल कहेंगे और वास्तवमें ही मेरा प्रयत्न उस बालकके समान है जो दोनों हाथ फैला कर समुद्रका माप बतलाता है कि इतना बड़ा है। पर हां! जो कुछ कहूंगा सो गुरूगम और अनुभवसे कहूंगा। कहीं चूकूं तो छल नहीं समझना और न गुरूका दोष समझना।

(१) एक कटोरेमें दही रखिये। उसे नेत्र इंन्द्रियसे देखिये तो उसमें रंग है, नाकसे सुंघिये तो उसमें गंध प्रतीत होती है, जीभसे चखिये तो उसमें स्वाद जाना जाता है, दहीको हाथमें लीजिये तो उसमें चिकनाहट नरमता और वज़नका बोध होता है सारांश! दही इन्द्रिय गोचर है। अब कुछ दही कटोरेमें ही रक्खो और कुछ दही कटोरेमेंसे हाथमें लेओ तो मालूम हो जावेगा कि दहीके खंड होसक्ते हैं। अब हाथमेंका दही कटोरेमें ही छोड़ देओ तो वह फिर मिल जावेगा। इससे यह भी प्रतीत होता है कि दहीमें इन्द्रिय गोचरताके सिवाय मिलने बिछुरनेका गुण है इस लिये "पुरयंति गलयंति पुद्गलाः" की नीतिसे दहीको पुदगल कहना चाहिये। दहीके समान अन्य वस्तुएं भी जो इंद्रिय गोचर हैं वे सब पुदगल हैं जैसे छड़ी, घड़ी, धोती टोपी, कागज कलम, ताला, तलवार, टक्का, पैसा आदि।

पुदगलोंके ये रूप, रस, गंध, स्पर्श, गुण सदा स्थिर नहीं रहते, सदा बदलते रहते हैं। अर्थात् वर्णसे वर्णान्तर, रससे रसान्तर, गंधसे गंधान्तर और स्पर्शसे स्पर्शान्तर हुआ करते हैं। जैसे जिस आम्रके फलको हमने कल हरा देखा था वह आज मिष्ठ पीला दिखता है और थोड़े कालके बाद लाल दिखने लगता है। जिस फलको हमने कल खट्टा देखा था वह आज मिष्ट देखते हैं और थोडी देरमें विरस हो जाता है। इन गुणोंके गुणांश भी सदा बदलते रहते हैं जैसे जिस ककडीको हमने कल बहुत हरी देखा था आज उसमें कम हरियाली देखते हैं और कुछ कालमें वह पीली दिखने लगती है। ये गुणांश कभी कभी इतने हीन प्रगट रहते हैं कि इन्द्रिय गोचर भी नहीं होते जैसे कि अग्निकी गंध, वायुका रंग इत्यादि। परन्तु यह स्पष्ट है कि वर्ण ५ रस ५ गंध २ स्पर्श ८ इन २० मेंसे जहां १ भी धर्म पाया जावे उसे पुदगल जानो। पुदगलोंकी हालतें सदा बदलती रहती हैं जैसे पानीसे भाप, कुहरा, ओस बादल होते रहते हैं। अथवा अन्न, पानी, हवासे शरीर हड्डी चमडा खून मांस वीर्य आदि हुआ करते हैं। जब वे पुदगल आपसमें टकराते हैं तो वायु मंडलकी हवाको धक्का लगता है फिर वह हवा एक दूसरे वायु कणोंको धक्का देती है यहां तक कि कानकी झिल्लि तक धक्का पहुंचता है और आवाज सुनाई देती है

इस चित्रमें देखो एक लकड़ीमें सूतसे बंधी हुई गोलियां लटक रहीं

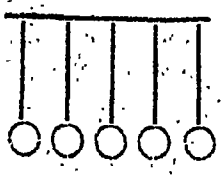

हैं अब एक गोलीको धक्का देओ तो वह दूसरेको और दूसरी तीसरी आदिको धक्का देगी ऐसा ही शब्दमें होता है। शब्द भींत आदिसे रुक जाता है और कभी उलटकर पुनः सुनाई देता है उसे प्रतिध्वनि कहते हैं। इससे स्पष्ट है कि शब्द मूर्तीक है और मूर्तीक पुद्गलोंसे उत्पन्न है। परन्तु शब्दको पुद्गलका गुण नहीं कह सकते क्योंकि वह पुद्गलमें सदा नहीं रहता और गुण वही होता है जो पदार्थमें सदा रहता है अतः शब्द पुद्गल की पर्याय याने हालत है। बहुतसे मतान्तर वादी शब्दको आकाशका गुण बतलाते हैं उन्हें हम सम्बोधन करते हैं कि अरूपी आकाशसे मूर्तीक शब्द नहीं निस्पन्न हो सक्ता अगर शब्द आकाशका गुण होता तो लोक अलोक सदा एकसा शब्दायमान रहता और यह घंटेकी आवाज, यह बांसुरीकी तान और यह वीनकी ध्वनि है ऐसा बोध नहीं होता। इतने थोड़ेही वक्तव्यसे आप लोग समझ गये होंगे कि जो कुछ इन्द्रिय गोचर है वह पुद्गल है इस लिये अँधेरा, धूप, छाया, प्रकाश, शरीर, वचन, जल, वायु, अग्नि, पहाड, स्वास निस्वास, आदि सब पुद्गल हैं। विजली, टेलीफोन, रेल, तार आदि सब पुद्गलके चमत्कार हैं। कई मतान्तर वादी कहते हैं कि जो कुछ हम देखते सूंघते सुनते हैं यह सब मिथ्या अर्थात् असत् है। इसका निराकरण हम केवल इतनेमें ही करके आगे चलेंगे कि जो वे यह कहते हैं "कि जगत मिथ्या है भ्रांति है" सो उनका ऐसा कहना भी भ्रांति हुआ अतः उनका मिथ्या भ्रांति रूप वचन भी प्रमाण नहीं है।

अब एक चाक मिट्टीका टुकड़ा लेओ उसमेंका एक खसखससे भी छोटा टुकड़ा स्लेट पर रक्खो। उस छोटेसे कणके चाकूसे जितने बन सकें खंड करो। उन खंडोंमेंसे सबसे छोटे खंडके फिर खंड करो, यदि साधारण प्रकाशसे काम नहीं चले तो धूपमेंसे खंड करो और सबसे छोटे खंडके पुनः खंड करो, यदि साधारण आखोंकी दृष्टि काम न देवे तो चश्मेसे काम लेओ और खंड करो। फिर चश्मा काम न देवे तो माइक्रास-कोपसे देखके खंड करो। जब माइक्रासकोपसे भी निरुपाय होते देखो तो बहुत बढ़िया सूक्ष्म दर्शक यंत्रसे देखकर खंड करो। और जब सूक्ष्मदर्शक यंत्र भी व्यर्थ होने लगे तो ज्ञानसे खंड विचारो। बस सबसे छोटेमें छोटे पुद्गल अणुको जिसका फिर खंड नहीं हो सके उसे बुद्धिसे विचारो उसीका नाम परमाणु है। ऐसे परमाणु भी स्पर्श, रस, गंध, वर्ण वंत रहते हैं क्योंकि किसी वस्तुके गुण कभी नष्ट नहीं हो सक्ते। जब कि इन परमाणु-ओंमें स्निग्धता रुक्षता सदा स्वाभाविक रहती है तो वे एक दूसरे मिला करते हैं और दो तीन चार संख्यात असंख्यात अनंतकी संख्यामें भी मिल जाते हैं ऐसी बन्ध रूप दशामें उन्हें स्कंध कहते हैं। अब आप सोच सक्ते हैं कि परमाणु ही असली पुद्गल है जिसकी

ईंट, पत्थर, कागज, कलम आदि हालते हैं। पुद्गल वस्तुका अस्तित्व वर्तमानमें तो स्पष्ट ही सिद्ध है और पूर्वकालमें उसका अस्तित्व हमारी स्मृति सिद्ध करती है कि कल परसों और उसके पूर्वकालमें हमने पुद्गलोंको देखा सुना अनुभवन किया था। इतिहास और पुरानी कथाओंसे अनंत भूतकालके पुद्गलोंका अस्तित्व प्रतीत होता है। अब आगामी कालमें भी पुद्गल पदार्थोंका अस्तित्व रहेगा इसमें कोई सन्देह कर सक्ते हैं अतः प्रधानतया इसी पर विचार करना है। पदार्थोंमें गुण होते हैं और गुण वही हैं जो पदार्थोंसे कभी अलहदा नहीं होते सदा सहभावी रहते हैं। धनके कारण मनुष्य धनवान् कहलाता है, ऊंटके पास रहनेसे ऊटवान और गाड़ीका स्वामी होनेसे गाड़ीवान कहलाता है, ऐसा गुणों और वस्तुओं अर्थात गुण गुणीका संयोगी सम्बन्ध नहीं है क्योंकि धनवान जुदी वस्तु है और धन जुदी वस्तु है। अतः अग्निका उष्णताके साथ, जीवका ज्ञानके साथ जैसा सम्बन्ध है वैसा ही गुण गुणीका सम्बन्ध है. कभी ऐसा नहीं हो सक्ता कि अग्निकी उष्णता तो आप रक्खें और अग्निको मैं अपने पास रक्खूं। इसी प्रकार यह भी नहीं हो सक्ता कि आपका ज्ञान मेरी थैलीमें रक्खा रहे और आप घर पर बैठे रहें। बस! इसी प्रकार स्पर्श रस आदि गुणोंका पुद्गलसे सम्बन्ध है-श्री स्वामी कुंदकुन्द मुनिंद्रने कहा है कि-

दव्वेण विणा ण गुणाः गुणेहि दव्वं विणा ण संभवदि।
अव्वदिरित्तो भावो दव्व गुणाणं हवदि तह्मा॥

भावार्थ—द्रव्यके विना गुण नहीं होते और गुणोंके विना द्रव्य नहीं होते इस लिये द्रव्य और गुणोंका अव्यतिरिक्त भाव है। कहनेका अभिप्राय यह है कि पुद्गलके स्पर्श रस आदि गुण कभी नष्ट नहीं हो सक्ते इससे उसका आगामी कालमें कायम रहना स्पष्ट तथा सिद्ध होता है। सारांश! पुद्गल थे, हैं और रहेंगे। इसी कारण पुद्गल पदार्थ सत् है, सतका कभी विनाश नहीं होता और कभी असत्का उत्पाद नहीं होता यही वस्तुका वस्तुत्व है। सूत्रजीमें कहा है कि सत-उत्पाद, व्यय, ध्रुव युक्त होता है अर्थात वस्तुकी हालतें बदलती रहती हैं पर वस्तु कायम रहती है।

जिस प्रकार पुद्गलमें स्पर्शादि गुण हैं वैसे ही थाली लोटा आदि पर्यायें भी हैं। भेद इतना है कि गुण तो साथ रहते हैं अर्थात् सहभावी होते हैं और पर्यायें क्रमशः होती हैं अर्थात् क्रमभावी होती हैं। भाव यह कि एक द्रव्यमें एक कालमें एक ही पर्याय होती है पश्चात् दुसरी, पश्चात् दूसरी, पश्चात् दूसरी, पश्चात् दूसरी, बस। यही उसका उत्पाद व्यय है अर्थात एक पर्यायका लय हो जाना और दूसरीका प्रगट होना फिर उसका भी इसीमें लय हो जाना और तीसरीका प्रगट होना।

अपने हाथमें आटेकी लोई लीजिये वह गेंदके समान गोल है उसे दबा कर बाटी बनाइये अब बाटी पर्याय प्रगट होगई और लोई पर्याय कहां गई ? उसीमें समा गई। अब बाटीको और बढ़ाइये तो रोटी पर्याय प्रगट होगई और बाटी पर्याय उसीमें समा गई। पर लोई, बाटी, रोटी आदि सब हालतोंमें आटा वस्तु मौजूद है। इस थोड़ेसे ही कथनसे आप समझ सक्ते हैं कि पुद्गल पदार्थोंमें गुण हैं और पर्य्यायें हैं इस लिये " गुणपर्य्ययवद्द्रव्यं " की नीतिसे पुदगलोंको द्रव्य कहना चाहिये। और द्रव्य, वस्तु, पदार्थ, तत्व आदि प्रायः एकार्थवाची हैं। समयसारजीमें कहा भी है—

दोहा—**भाव पदारथ समय धन, तत्व वित्त वसु दर्व।**
द्रवनि अर्थ इत्यादि बहु, नाम वस्तुके सर्व॥

यह बात भी प्रत्यक्ष सिद्ध है कि पुदगल परमाणु अनंतानंत हैं जो नाना अवस्थाओंको प्राप्त हुआ करते हैं और कभी भी सर्वथा नष्ट नहीं होते। यदि पुदगल पदार्थ न होता तो न पानी होता, न हवा होती, न सभा होती न, सभा मंडप होता, न शरीरधारी सभापति होते, न समासद होते और न व्याख्यान होते। सारांश ! जो कुछ हम देखते सुनते हैं कुछ भी न होता। स्मरण रहे कि पुदगल अपने स्वरूपसे ज्ञान हीन और वे जान है इस लिये वह अजीव है। साइंसके विद्वानोंने जो अब तक ६५। ६७ तत्व खोजे हैं और भी खोज रहे हैं वे सब पुद्गल विज्ञानी वा जड़ विज्ञानी हैं। परन्तु हम अपने पाठकोंको आत्म विज्ञानकी ओर झुकाया चाहते हैं।

(२) आप अपने एक हाथसे, दूसरे हाथमें चीमटी लीजिये और कुछ जादा दबाइये। तो स्पर्श, रस, गंध, वर्णवंत शरीरके सिवाय एक और विलक्षण पदार्थ ज्ञात होगा जिसे यह बोध होता है कि हमें दुःख हुआ, हमें दबाया है, हमने दबाया है, हम पकड़े गये, हमने जाना, हमने देखा। यह जानने वाला शरीरके लक्षणोंसे भिन्न लक्षणोंवाला है बस ! यही ज्ञायक लक्षण आत्मा है और वास्तवमें यही तुम हो, तुम शरीर नहीं हो आत्मा हो जीव हो। जीवके रहते जड़ शरीरको लोग जीवित कहते हैं। मुख्यतया हमें जीव पदार्थको ही समझना और समझाना है क्योंकि अहिंसा और आत्म बलका सम्बंध जीव पदार्थ ही से है। यह आत्मा शरीरसे इतना तन्मय रहता है कि शरीरको पकड़ो तो आत्मा भी पकड़ा जाता है शरीरको पीटो तो आत्मा पिट जाता है। क्या झाड़ क्या चिंटी क्या हाथी सबके शरीरमें आत्मा रहता है। इन्द्रियोंके व्यापार और कायकी चेष्टासे उसका अस्तित्व प्रतीत होता है। परंतु शरीरकी अचेतन परणतिसे जीव की चैतन्य परणति जुदी देखनेमें आती है। जिसे लोग मरजाना कहते हैं उससे जीव पुद्गलकी पृथकता स्पष्टता सिद्ध है। भूत प्रेत, पूर्वभव स्मरण आदिके दृष्टांत जगह जगह

मिलते हैं। मथुराके एक नामाङ्कित श्रीमान्के यहां पुत्र था जो अपने पूर्व भवका हा पूरा पूरा और काविल यकीन बतलाता था। इससे यह भी स्पष्ट सिद्ध होता है कि जी पहिले शरीरमें था और एक शरीर छोड़ने पर उसने दूसरा शरीर धारण किया। अर्थो जीव था, है, और रहेगा। क्योंकि शरीरकी स्थितिकी अवधि सिद्ध है और जीवक स्थितिकी अवधि नहीं है। वह अपरिमित कालसे है और पूर्ववत अपरिमित काल त रहेगा। शरीरका छोड़ना और ग्रहण करना कपड़े बदलनेके समान है। अज्ञानसे जै हम कपड़ोंके संयोग वियोग, नवीन प्राचीन पनेमें हर्ष विषाद करते हैं वैसी ही शरीर मिथ्या अहं बुद्धि करनेसे राग द्वेष होता है। परन्तु शरीर पुद्गल है जड़ है जीवसे प है। आत्मा चैत्यन्य है ज्ञाता है और स्व है तथा अचेतन परणतिसे निराला है। यद्यपि वह रंग, रस, गंध रहित होनेसे इन्द्रिय गोचर नहीं है तथापि स्वानुभव गोचर अवश्य है इसीका नाम भेद विज्ञान हैं और यही सम्यक् दर्शनका कारण है।

आधुनिक आन्दोलनकी सफलताके हेतु ऐसे विज्ञानकी अतीव आवश्यकता है जिन्हें इस प्रकारका दृढ़ विज्ञान है वे ही शांति और सत्याग्रह धारणकर सक्ते हैं वे ही सच्चे स्वयम् सेवक बन सक्ते हैं और उनके ऊपर दमन नीतिका बल नहीं चलता वे दमनको भी अमन समझते हैं और और अंतमें दमन ही का शमन होता है।

सुवर्णकी धाऊको जब हम देखते हैं तब धाऊमें वजन आदिसे सोनेका अस्तित्व प्रतीत होता है पर सुवर्णका असली रूप प्रगट नहीं दिखता। यदि धाऊको विवेक पूर्व भट्टीमें तपावें तो उज्वल सुवर्ण जुदा हो जाता है और किट्टिमा जुदी रह जाती है इस तरह जब जीवात्मा तपकी अग्निसे तपाया जाता है तब वह उज्वल होकर शरीरसे अल हदा हो जाता है ऐसा अशरीरी आत्मा पापके बोझसे रीता होकर ऊपरको गमन करता और लोकाग्रमें जाके टिकता है (लोकाग्रका स्वरूप धर्म द्रव्यके कथनमें स्पष्ट हो सकेगा।) यह अशरीरी आत्मा सब पदार्थोमें सारभूत, शुद्ध, बुद्ध, निरविकल्प, आनन्द कन्द, चिच्चमत्कार, विज्ञानघन, परमदेव होता है। यही हमारी आत्माका वास्तविक स्वरूप है और हमें उपादेय है। ऐसे ही आत्मा पूर्ण आत्मबल सम्पन्न और सच्चे अहिंसक हैं। यहां नौकर शाहीकी हुकूमत नहीं पहुंचती और न पर राष्ट्र उनका रक्त चूस सक्ती है। ये सच्चे स्वराज्यको प्राप्त हैं। गुलामगीरी उनके स्वभावमें नहीं है। उनके पूर्ण ज्ञानका चरखा सदा ध्वनित रहता है और पूर्ण आनन्दका एकसा सूत निपजाता है कभी तागा टूट नहीं सक्ता।

अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार साबुनसे धोनेपर गंदे और मलिन कपड़े निर्मल होजाते हैं उसी प्रकार पराधीन और इन्द्रियोंके विषयोंकी गुलामगीरीमें सुख माननेवाले हमारे आप जैसे गंदे आत्मा षड् द्रव्य विज्ञानके साबुनसे उज्वल हो जाते हैं। श्रीसमयसारजीमें कहा है—

दोहा.—भेदज्ञान साबू सरस, सम रस निर्मल नीर ।
धोवी अंतर आतमा, धोवै निज गुण चीर ॥

बस ! षट् द्रव्यके ज्ञान और जैन धर्मका यही महत्व और फक्र है कि चिंटी आदिके शरीरमें रहनेवाला और जलियाना बागसे भी भयंकर यातना भोगनेवाला परतंत्र आत्मा उन्नति करते करते त्रैलोक्यका शिखामणि होता है जिसकी सच्ची स्वतंत्रता कल्प काल तक क्या कभी भी नष्ट नहीं होती ।

अब तो बिल्कुल स्पष्ट सिद्ध हो गया कि जीव पदार्थ सदाकालसे था है और रहेगा । विशेष यह कोई जीव तो गंदे कपड़े जैसी संसारी दशामें रहते हैं और कोई उज्जल कपडे जैसी सिद्ध दशामें हैं जहां फिर मलिनता नहीं पहुंचती । श्री गोमट्टसार आदि महाशास्त्रोंमें जीवोंकी गंदी और उज्ज्वलताकी अवस्थाओं तथा उनके कारणोंका वर्णन है जिसका यहां उल्लेख करना गागरमें सागर भरनेके समान नितान्त कठिन है ।

केई मतांतर वादी कहते हैं कि मोक्ष होनेपर आत्मा शून्य हो जाता है कोई कहते हैं, परमात्मामें लय हो जाते हैं, कोई कहते हैं कि चिरागके समान बुझ जाता है, कोई कहते हैं कि जड हो जाता है इत्यादि अनेक कल्पना करते हैं । परन्तु हम पूर्वमें स्पष्ट कर आये हैं कि किसी पदार्थके गुण कभी नष्ट नहीं हो सक्ते अतः चेतियता चेतना चेतता था चेतता है और चेतता रहेगा ।

जिस तरह एक छाया पर दूसरी तीसरी आदि करोड़ों छाया समाया करती हैं उसी प्रकार ।

एक माहीं एक राजें एक माहिं अनेकनो ।
इक अनेकाकी नहीं संख्या, नमो सिद्ध निरंजनो ॥

मनुष्यके आकारकी मेनकी एक पुतली बनाइये उसे कारीगरीके साथ लोहेसे मँढ़ दीजिये । फिर उसे तीक्ष्ण आंच दिखाइये तो मैनकी खाक भी नहीं बचेगी सब उड़ जावेगा । यदि छतके ऊपर बड़ा चुम्बक लगाया जावे तो वह पुतली ऊपर जा लटकेगी । अब उस लोह पुतलीके अंदर जो पोल है वह सिद्धात्माकी आकृतिका दृष्टांत है । भेद यही है कि वह पोल अजीव है और शुद्धात्मा चैतन्य मूर्ति आनंदकंद है । बहुतसे मनुष्य मोक्षमें जा टिकनेको एक कैदखाना कहने लगते हैं सो उनका कहना उन स्वराज्य द्रोहियोंके समान है जिन्हें गुलामगीरीकी बद—आदतें बहुत कालसे पड़गई हैं । उन्हें स्वराज्यकी प्राप्तिमें दुख ही दुख दिखता है वे स्वराज्य नहीं चांहते, दासता ही के टुकड़ोंमें प्रसन्न हैं ।

कि जबसे पदार्थ हैं और जब तक पदार्थ रहेंगे तब तक बराबर परिवर्तनकी रीति चालू रहेगी अर्थात् अनंत भूतकालसे यह पद्धति चालू है और अनन्त भविष्यत कालतक रहेगी।

ऐसा क्यों होता है ? यह विचारें तो अवस्थासे अवस्थांतर होनेका असली अर्थात् उपादान कारण वे ही पदार्थ हैं जो अवस्थान्तर हुए हैं। यदि दूधमें दही बननेका खासा न होता तो किसकी मजाल थी कि दूधसे दही बना देता। पर विना बाह्य कारणके भी काम नहीं हो सक्ता। विना रई घुमाये अर्थात् मथन किये विना मक्खन नहीं मिल सक्ता है। दूसरा दृष्टांत लीजिये कि जो कुंभकारका चक्र घूमता है उसका उपादान कारण चक्र स्वयम् ही है कुंभकार दंडा आदि प्रेरक कारण हैं परंतु यदि वह खूंटी जिस पर चक्र घूमता है वह न हो तो भी चक्र न घूम सकेगा ऐसे कारणोंको उदासीन निमित्त कारण कहते हैं।

बस ! सब पदार्थोंके अवस्थान्तर होनेमें खूंटीके समान जो उदासीन निमित्त कारण है वही काल है। जीव पुद्गलों आदिकी हालतें बदलनेमें वह प्रेरक नहीं, निमित्त रूप है। वह मूर्तीक पुग्दलोंसे भिन्न लक्षणोंवाला अर्थात् अमूर्तीक, और जीवके चैतन्य धर्मसे विलक्षण अर्थात अचेतन ही होना चाहिये।

मिनिट, घंटा, पहर, वर्ष आदिको लोग व्यवहारमें काल कहते हैं पर वह पुद्गलोंकी परणतिसे प्रगट होता है अर्थात् घड़ीकी बड़ी सुई जब बारा नंबरोंपर चक्कर लगा देती है तब लोग कहते हैं कि एक घंटा हो गया।

स्वामी कुन्दकुन्दने कहा है कि "तह्मा कालो पडुच्च भवो" अर्थात् व्यवहार काल पुदगलाश्रित है परन्तु इस व्यवहार कालसे वास्तविक काल जो पदार्थोंको अवस्थान्तर कराता है निराला है वह जीव द्रव्यके समान अमूर्तीक वस्तु है भेद इतना है कि जीव माप में बड़ा है। और कालका प्रत्येक कण परमाणुके बराबर है। परन्तु परमाणु मूर्तीक है और कालाणु अमूर्तीक है। चांदीकी एक पाट लेओ जो लाखों परमाणुओंके बराबर है यह जीव पदार्थका दृष्टान्त है। अब चांदीकी एक रेतनका एक बहुत ही छोटा कण लेओ यह कालाणुका दृष्टान्त है। ऐसे कालाणु सब लोकमें भरे हुए हैं। यह स्मरण अवश्य रहे कि चान्दीकी रेतन पुदगल है उसमें स्निग्धता रुक्षता है जो मिलकर पाट बन जाती है पर कालके दानेमें स्निग्धता रूक्षता नहीं है इससे कालके दाने एक दूसरेसे कभी नहीं बँध सक्ते हैं। इसी कारण वे अकाय हैं।

जिस तरह जीव दूसरोंको जानता और अपनेको भी जानता है उसी तरह काल पदार्थ दूसरोंको वर्तांता और अपनेको भी वर्तांता है। जब कि वह स्वयम् वर्तता है तो उसमें पर्यायें उपजतीं और लय होती हैं। ये अरूपी पर्यायें षट् गुण पतित हानि वृद्धिका स्वरूप समझनेसे बुद्धिमें आ सक्ती हैं परन्तु यह विषय सूक्ष्म है यहां लिखनेसे लेख

बाहुल्यता होगी। सारांश कालमें गुण और पर्यायें होती हैं अतः वह द्रव्य सिद्ध होता है।

यदि काल पदार्थ न होता तो निमित्तके बिना पदार्थोंकी हालत न बदलती उनमें उत्पाद व्यय नहीं होता। जो पदार्थ जैसा है वैसा ही रहता जो आम हरा है वह हरा ही रहता पीला न होता न सड़ता और न छोटा बड़ा होता।

हमारे श्वेताम्बर बंधु इस अतीव आवश्यक द्रव्यका अस्तित्व नहीं मानते। परन्तु जब वे गति स्थिति स्थानके हेतु, निमित्त भूत धर्म अधर्म आकाशको वांछते हैं तो कालके बिना भी काम नहीं चल सक्ता परिवर्तनाके हेतु भी निमित्त होना ही चाहिये।

ब्राह्मण धर्म शास्त्रोंमें भी कालका उल्लेख है। और कहा है–

चौपाई.–**सिरजत काल सकल संसारा। करत काल तिहुं लोक सँहारा॥**
सब सोवत जागत है सोऊ। काल समान बली नहिं कोऊ।१।

यह कथन जैन मतके स्याद्वादसे सम्यक् सिद्ध होता है। अर्थात् काल पदार्थ संसारकी नवीन पर्यायोंको उत्पन्न कराता है और प्राचीन पर्यायोंको लय कराता है। परन्तु यदि कोई यह समझ जावे कि काल ही उत्पन्न करता है, काल ही नष्ट करता है तो यह "ही" लगानेसे एकान्तवाद हो जाता है और वह दूषित है॥ कहा भी है–

दोहा–**पद स्वभाव पूरव करम, निश्चय उद्यम काल।**
पक्षपात मिथ्यात सब, सर्वाङ्गी शिवचाल॥१॥

कालके संबंधमें एक बड़ी भारी शंका यह होती है कि काल पदार्थ जब लोक मात्रमें है तो वह अलोकाकाशको क्यों कर परिवर्तित करता है। इसका समाधान कुन्द-कुन्द स्वामीने बड़ी कड़ी युक्तियोंसे किया है उनमेंसे एक मोटीसी यह है कि जिस प्रकार शरीरके मध्य भागमें मैथुन होता है और उसका अनुभव सर्वांग होता है। उसी प्रकार काल भी आकाशके मध्यमें रहके संपूर्ण आकाशको वर्ताता है।

हमारे ऋषियोंकी कथन शैली ऐसी सुन्दर है कि वार वार द्रव्यानुयोगके शास्त्रों का कथन चिंतवन करनेसे अरूपी काल द्रव्य भी स्पष्टतया समझमें आने लगता है।

४–अब हम चौथे पदार्थ पर आप लोगोंका चित्त झुकाया चाहते हैं। आप देखिये पुस्तक टेबिल पर रक्खी है, टेबिल प्लेटफार्म पर है, प्लेटफार्म पृथ्वीपर है, अर्थात् पदार्थोंमें आधार आधेय वा क्षेत्र क्षेत्रिय भाव है।

जिस प्रकार जीव पदार्थ अपनेको और सकल पदार्थोंको जाननेवाला 'ज्ञान' इस परमधर्मसे सिद्ध है। अपनेको और दूसरोंको वर्तानेवाला काल पदार्थ 'वर्तना' इस परम धर्मसे सिद्ध है। उसी प्रकार अपनेको और दूसरे समस्त पदार्थोंको क्षेत्र देनेवाला अवगाहना परमधर्मवाला

पदार्थ होना ही चाहिये। उसके विना द्रव्योंकी सिद्धि नहीं हो सक्ती। बस! उसीका नाम आकाश है। जो सबको क्षेत्र देनेवाला है, सबका क्षेत्रिय है, सबका आधार है। सारांश! आकाश और सब पदार्थोंमें आधार आधेय सम्बन्ध है। जिस प्रकार जीवके एक प्रदेशमें भी अपनेको और अनंत पुद्गलों, जीवों, काल आदिको जाननेका सामर्थ्य है, कालके एक प्रदेशमें अपनेको और अनंत जीव पुद्गलों आदिको वर्तानेकी सामर्थ्य है उसी प्रकार आकाशके प्रत्येक प्रदेशमें जो परमाणुके बराबर होता है अपनेको अनंत जीवो, पुद्गलों और काल आदिको स्थान देनेका सामर्थ्य है। पं० प्रवर दौलत रामजी साहबने कहा भी है "सकल द्रव्यको बास जामुमें सो आकाश पिछानो"।

ऊपर आसमानमें जो नीला सा हद्दे नजर दिखता है अथवा जो लाल पीले रंग बदलते रहते हैं उसे बहुतसे लोग आकाश समझ जाते हैं। परन्तु रंग पुद्गलोंमें होता है आकाशमें नहीं हो सक्ता। आकाश अरूपी वस्तु है।

जब कि आकाश सबका क्षेत्रिय है तो जहां जहां जीवादि पदार्थ हैं वहां वहां आकाशका अस्तित्व सिद्ध ही है। लोकमें तो आकाश है ही। परन्तु उससे आगे, क्या है इस प्रश्नका उत्तर यही मिलेगा कि उससे आगे आकाश है, फिर उससे आगे, आकाश फिर उससे आगे? आकाश! लोकसे आगे भी आकाश है तो वहां जीवादि पदार्थ क्यों नहीं पहुंच जाते और लोकको और भी विस्तृत क्यों नहीं कर लेते? इसका समाधान धर्म द्रव्यके कथनसे हो सकेगा।

आकाशमें स्थान दान आदि गुण हैं और काल द्रव्यके समान अरूपी पर्यायें हैं अतः आकाशको द्रव्य कहना चाहिये। यदि आकाश न होता तो पदार्थ ही न रह सक्ते। इस लिये लोककी सिद्धिके हेतु आकाशका अस्तित्व मानना ही चाहिये।

५–६–पाठक! जीव, प्रकृति, काल और आकाश तो संसारमें प्रायः प्रचलित हैं। अब हम उन अरूपी सूक्ष्म वस्तुओंकी ओर आपकी दृष्टि डालना चाहते हैं जो जैन शासन सिवाय अन्यत्र अप्रसिद्ध ही हैं। जिन्हें स्वामी दयानन्दजी जैसे प्रसिद्ध आर्य विद्वान् न समझ सक्के और धर्म अधर्म द्रव्यको जीव प्रकृति आदि पदार्थोंके धर्म अधर्म अर्थात् स्वभाव विभाव समझ बैठे और पवित्र जैन धर्मका खंडन अपने सत्यार्थ प्रकाशमें कर गये।

यह देखिये झाड़से एक फल गिरा और धरती पर ठहर गया। लड़केकी पतंग उड़ते उड़ते कुएमें पडगई। अभिप्राय यह कि जीव पुद्गलोंमें गमन स्थिति क्रिया देखते हैं। इसका कारण सोचिये तो अंतरंग कारण तो वे ही गमन स्थिर होनेवाले पदार्थ हैं

१ पुद्गल

स्वर्गीय स्याद्वाद वारिधि पूज्य पं० गोपालदासजी बरैयाने श्री जैनसिद्धांत-दर्पणमें एक तर्क निकाला है कि गति स्थितिके हेतु जुदे जुदे दो पदार्थ माननेकी क्या आवश्यक्ता है ? इसका समाधान भी उस प्रातः स्मरणीय विद्वान्ने किया है कि परस्पर विरोधी धर्म एक ही धर्मीमें नहीं हो सक्ते इस लिये जो पदार्थ चलानेवाला है वह ठहरानेवाला नहीं होसक्ता और जो ठहरानेवाला है वह चलानेवाला नहीं हो सक्ता अतः दोनों पदार्थ प्रथक् प्रथक् सिद्ध हैं। और दोनोंकी ही आवश्यक्ता प्रतीत होती है।

अब आप लोगोंकी समझमें आया होगा कि धर्म अधर्म पदार्थ हैं अर्थात धर्मी हैं और गति स्थिति सहायकता दोनों के क्रमशः धर्म हैं। जिस प्रकार साइंसवालोंने लिखा है कि यदि गुरुत्वाकर्षण न होता तो सूर्य चन्द्र अपने मार्गपर न रहते न जाने कहां जाते, यदि परमाणु आकर्षण न होता तो सब चीजें धूलकी दशामें रहतीं। उसी प्रकार जैन ऋषियोंका कहना है कि यदि धर्म द्रव्य नहीं होता तो जो पदार्थ जहां था वहां ही रहता कोई भी पदार्थ नहीं चलते न कोई मोक्ष जाता न कोई देशान्तर जाता। न चरखा चलता, न सूत कतता, न सभा होती, और न आप लोग अपने घरसे आ सक्ते।

और यदि अधर्म द्रव्य न होता चलती हुई कोई भी वस्तु न ठहरती। गिल्लीको दंडा मारनेसे वह चली ही जाती फिर न ठहरती। छतरी जो हवामें उड़ पड़ी थी उड़ती ही जाती। और सिद्ध आत्मा जो ऊपरको गमन किये थे चले ही जाते कभी भी विश्राम नहीं पाते। यहां तक कि इन दो द्रव्योंके विना लोक अलोकका भी भेद न होता।

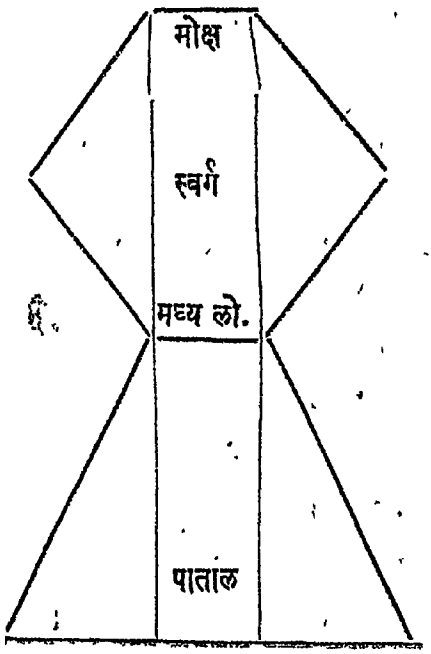

यह चित्र देखिये छहों द्रव्योंसे भरे हुए लोकका आकार है। छहों द्रव्य अपने अपने गुण पर्यायोंमें परणमते हैं कोई भी द्रव्य अपने गुणस्वभाव नहीं छोड़ते और न अन्यके गुण स्वभाव ग्रहण करते हैं। हां! जीव पुद्गल, स्वभाव विभावरूप होते हैं। विभाव परणति निबंधका विषय नहीं है होता तो हम उसका कथन करते। पर इतना अवश्य कहेंगे कि एक दूसरेके निमित्त नैमित्तक होनेसे द्रव्योंकी परणति सिद्ध होती है। अतः लोकका वा द्रव्योंका कोई करता, हरता विधाता सिद्ध नहीं हो सक्ता इस लिये सभी द्रव्य स्वयम् सिद्ध हैं। द्रव्योंका 'समुदाय रूप, लोक, किसके बलसे अधर खड़ा

है यह कहे विना; हम निबंध पूरा नहीं कर सक्ते। एक साइंसके विद्वान्ने एक मनुष्यको बिलकुल निराधार खड़ा कर दिया था। और उसे हमने स्वयम् देखा है। बुद्धिसे सोचा जावे तो यह जीव अजीव ही की करामात है कहनेका अभिप्राय यह कि इतना बड़ा लोक जीव अजीव ही की विलक्षण विद्युतसे जिसे माध्याकरषण कह सक्ते हैं अधर खड़ा है। परमार्थ दृष्टिसे सब द्रव्योंके आधार स्वरूप आकाशके आधारपर लोक है और आकाश अपने परमधर्म आधारके आधार है।

छह द्रव्योंके संबंधमें नीचे लिखा छंद स्मरण योग्य है।

सवैया मात्रिक-

जीव धरम अधरम नभ पुगदल, काल सहित षट् द्रव्य प्रमान।
चेतन एक अचेतन पाचों, रहैं सदा गुण पर्जयवान॥
केवल पुगदल रूपवान् है, पाचों शेष अरूपी जान।
काल द्रव्य विन पंच द्रव्यको, अस्तिकाय कहते बुधिवान॥ १॥

उपसंहारमें हमें यह कहना है कि निबंधमें कई जगह मतान्तर वादीको लक्ष्य बनाकर संबोधन किया है सो किसीकी निन्दा वा विरोधकी इच्छासे नहीं किया है। अब ऐसा कीजिये कि एक घड़ी भरको आपही वादी बन जाइये और कहिये लोककी सिद्धिके वास्ते जीव द्रव्यकी आवश्यक्ता नहीं है और न उसका अस्तित्व सिद्ध है। तो मैं कहता हूं कि आप कौन हैं?

अब आप कहिये-हम पुद्गल हैं शरीर हैं। शरीरमें शराब कैसा नशा कुछ काल रहनेसे लोग जीव जीव चिल्लाने लगे हैं।

मैं कहता हूं-कि शराबका नशा भी जीव ही को होता है। नहीं तो शराबकी बोतलें भी उछलती कूदती फिरतीं इससे जीवका अस्तित्व सिद्ध है।

अब आप कहिये-कि पुद्गल नहीं हैं।

तो मैं कहता हूं-कि यह रंग बिरंगे पदार्थ देखते हैं सो क्या हैं?

अब आप कहिये-संसारमें आकाश नहीं है।

तो मैं कहता हूं-जीव पुगदल आदि कहां रहते हैं?

आप कहिये-हम कालकी कुछ आवश्यक्ता नहीं समझते।

तो मैं कहता हूं–क्या विना निमित्तके भी कार्य हो सक्ता है ? संसारमें सभी लोग निमित्तको बलवान मानते हैं।

आप कहिये–लोककी हद माननेकी जरूरत नहीं। वह अनंत है।

मैं कहता हूं–जब सब चीजोंकी हद है तो लोक भी हद सिद्ध है।

आप कहिये–धर्म अधर्म द्रव्यका अस्तित्व मानना अनावश्यक है।

मैं कहता हूं–लोककी हदसे धर्म अधर्म द्रव्योंका अस्तित्व स्पष्ट सिद्ध है।

आप कहिये–इन द्रव्योंका जानने कथन करनेवाला ईश्वर नहीं हैं।

मैं कहता हूं–कि यहां और इस समय ईश्वर नहीं है कि सर्व काल और सर्व क्षेत्रमें ईश्वर नहीं है।

आप कहिये–कि कभी भी और कहीं भी ईश्वर नहीं हैं।

मैं कहता हूं–अगर आप सर्व काल और सर्व क्षेत्रको जानते हैं तो आप ही ईश्वर हो।

आप कहिये–कि यदि ईश्वर है तो वह इन द्रव्योंका वा जगत्का कर्ता अवश्य है।

मैं कहता हूं–कि आप ईश्वरको " निरीह ईश्वर विभु " मानते हैं या नहीं ?

आप कहिये–सब ही ईश्वरवादी प्रभुको निरीह मानते हैं।

तो मैं कहता हूं–कि इच्छा रहित प्रभु इस प्रपंचमें क्यों पड़ने चला ?

आप कहिये–तो सुख दुख कौन देता है।

मैं कहता हूं–जड़ चेतन अनादि संयोगी। आप हि कर्ता आप ही भोगी।

अथवा दोहा–**को सुख को दुख देत है, कौन करै झक झोर।**
उरझत सुरझत आपही, ध्वजा पवनके जोर॥

अब आप कहिये–कि लोककी सिद्धिके हेतु छह ही द्रव्योंकी क्यों आवश्यक्ता है ? कुछ कमती मानो !

मैं कहता हूं–कि छहमेंसे किसको छोड़ दूं। जिसके विना पदार्थोंकी सिद्धि होती जावे और बाधा न पड़े उसे छोड़ दूं।

आप कहिये–कि छहसे ज्यादा द्रव्य मानिये।

मैं कहता हूं–कि सातवां आठवां द्रव्य सिद्ध कीजिये।

अस्तु! अधिक कहनेसे क्या? लोककी सिद्धिके हेतु छह ही द्रव्योंकी आवश्यक्ता है और वे स्वयम् सिद्ध हैं।

बहुत लोग रुपये पैसेको द्रव्य कहते हैं। जब मैं विद्यार्थी था तब मैंने द्रव्य-संग्रह ग्रंथ इस लिये मंगाया था कि उसमें रुपये कमानेकी युक्तियां होंगी। लोग रुपया पैसा स्वरूप द्रव्यकी उपासना किया करते हैं सो वह भी द्रव्य ही है पर पुद्गल द्रव्य है उसमें आनंदका लेश भी नहीं। सदा अपने आत्म द्रव्यका आनंद लेना चाहिये।

छहों द्रव्योंमें आत्म द्रव्य सारभूत और उपादेय है। हे जीव! तुम आत्मा हो, आत्मा तुम्हारा है, तुम आत्माके हो। उसे तुम भलेप्रकार जानो, उसका श्रद्धान करो और उसीमें स्थिर रहो। आत्मा ही तुम्हारा सर्वस्व है, उसी पर अर्थात् अपने 'स्व' के ऊपर राज्य करो यही स्व-राज है। ज्यों ही तुम स्वरूपसे चिगते हो त्यों ही परराष्ट्र अर्थात् कर्म दल तुम्हारे ऊपर कबजा कर लेता है वा नौकरशाही रूप इंद्रियोंकी हुकूमतमें तुम्हें रहना पड़ता है जो तुम्हारे ज्ञान धनका शोषण करती और नाना नाच नचातीं हैं तथा तुमसे पूरी पूरी गुलामगारी कराती हैं। वे भांति २की चटमटक और चकाचौंध भरी विदेशी वस्तुएं दिखाकर तुम्हें गुलायम और मोहित बना देती हैं और पराधीनताकी जंजीरसे कस देती हैं। फिर तुम इतने मोहताज हो जाते हो कि यदि विदेशी लोग तुम्हारे कपड़े सीनेके लिये सुई भी न देवें तो तुम्हें फजीहत होना पड़े। इसलिये उनसे असहयोग करदो जो तुम्हारा असली रक्त चूसते हैं। तुम सच्चे स्वदेशी बनो एक क्षण मात्रको भी अपने स्वदेश और देशबंधुओंका हित मत भूलो। दमन नीतिसे मत डरो और अहिंसा पूर्वक सत्याग्रह ग्रहण करके स्वात्मबल बढ़ाओ।

अंतमें यह कहते हुए निबंध समाप्त करता हूं कि–

सब मित्र पवित्र चरित्र धरौ,
अरु शिक्षित पुत्र कलत्र करौ।
पुनि कौशल काव्य-कला विधिसे,
सजदो इस भारतको निधिसे॥

समाज सेवी—बुद्धिलाल श्रावक–लाडनूं (जोधपुर)

श्री स्याद्वादविद्यापतये नमोऽस्तु ।

जैन काव्योंका महत्व ।

(जैन साहित्य सभा लखनऊका लेख नं० ४)

(लेखक–पं० बनवारीलालजी स्याद्वादी–मोरेना ।)

वन्दारुवृन्दपरिघट्टविलोलिताक्ष वृन्दारकेश्वरकिरीटतटावकीर्णैः ।
मन्दारपुष्पनिकरैर्विहितोपकारं वन्दामहे जिनपतेः पदपङ्कजयुग्मं ॥
मुकुरविमलगण्डं चन्द्रसंकाशतुण्डं गजकरभुजदण्डं कामदाहाग्निकुण्डं ।
विनुतमुनिपपण्डं गोमठेशप्रचण्डं गुणनिवहकरण्डं नौमि नाभेयपिण्डं ।

आध्यात्मिकजननी, अहिंसाधर्मप्राणा, साहित्यसुन्दरी, परोपकारशीला, विज्ञाननयना भारतवर्षीयार्यजातिके पूर्वेतिहास पर दृष्टि वृष्टि करनेपर यह जाति चारित्रोन्नता, अक्षयज्ञानरत्नोंकी प्रसवित्री सुष्टुतया प्रतीत होती है, किन्तु निरपेक्ष हम यह भी कहेंगे, कि तत्सामयिक कुछ विषयलम्पटियों एवं च स्वधर्मोन्मत्तगणोंने प्रज्वलित–द्वेषाग्निसे दग्ध कर इस आर्यजातिके सर्वोत्तम पूर्वेतिहासको कलंक–कालिमामय बना दिया है । इस प्रज्वलित विशेषाग्नि हीके कारण गगनस्पर्शी उत्तंगशृङ्गसमन्वित हिमधवलपर्वतमाला, एवं भीतिजनक नीलवर्णसलिलराशिपूर्ण समुद्रपरीखे प्राकृतिक आत्मरक्षकोंके उपस्थित रहने पर भी, सुसभ्य ज्ञानालोकसे प्रकाशित अत्यंत बलिष्ट धार्मिकवसुन्धरा भारत पर विधर्मी और विजातीय नीच वैदेशिकदस्युदलके पुनः पुनः आक्रमणोंसे, भारतवर्ष विध्वस्त विपर्यस्त और परपदानत होकर अपनी अतुलधनराशि विद्या, प्राचीनसभ्यतासम्पत्ति, ऐश्वर्य, आत्मगौरवको पश्चिमीय सागरमें समाधिस्थ कर आज मुट्ठीभर पश्चिमीय जनोंकी तंत्रता (परतंत्रता)के चुँगलमें फँसा हुआ अपने जीवनमरणके प्रश्न हल करवानेकी अवस्थामें उपस्थित हो गया है । प्रिय पाठकवृंद ! यहांपर ही मेरे अश्रुपपात होकर समाप्त नहीं हो जाते । किंतु–

इस विद्वेषाग्नि तथा च स्वधर्मोन्मत्तता ही के सबबसे श्री अहिंसाकांतायुक्त, मान्यक्षमामाणिक्य, मार्दवचन्द्र, आर्जवाचार्य, शौच्यतीर्थभूमि, सत्यरत्नविभूषित, संयमपरिखावेष्टित, तपोभूमि, त्यागजननि, आकिंचन्य मूलसे शोभायमान, विश्वप्रेमचन्द्रकी ज्योत्स्नाका प्रकाशक, ऐसे जैनधर्मका सार्वभौमिक प्रसार न बढ़नेके हेतु, विपक्षियोंने जैनधर्मके प्रचारकोंको निःसीम कष्ट प्रदानके साथ साथ सहस्रों जिनमन्दिरोंको छिन्न विच्छिन्न, जैनसाहि-

त्यके लाखों ग्रंथराजोंको नष्ट कर, जैनप्रमितिसे जो संसारको वंचितकिया है। शायद इसीसे दैवने प्रकोपकर भारतमाताके १० कोटि जनोंकी स्वतंत्रताको अपहरणकर दारुण दुःखसे दुःखित किया है ! बौद्धमतकी राज्यसत्ताके समयमें जब कि भारतवर्षने प्रशान्त जैनधर्मको विदा करनेमें किसी प्रकारकी भी कसर नहीं रक्खी थी, वृहद्ग्रंथराजोंके साथ २ जैनमहाकाव्योंका भी वृहदंश नाशको प्राप्त हो गया था और जब कि श्री शंकराचार्यने जैनधर्मको नष्टीभूत करनेके इरादासे वर्षों गरम पानी कराकर असंख्य जैनग्रंथराजोंको अग्निदेवकी भेट करदी।

हम नहीं लिख सकते हैं कि जैनसाहित्यके प्रसार करनेके कारणभूत महाकाव्योंका इस पूर्वेतिहासमें कितना प्रक्षय हुआ होगा।

अब हम अपने विचारशील पाठकोंको इस बृहत् पूर्वेतिहाससे अलग कर प्राप्त अभीके करीब ३०० वर्ष पहिले (अर्थात् मुगल बादशाह ओरंगजेब) के जमानेमें ही लिये चलते हैं।

मुगल बादशाहतकी जड़को काटनेवाले इस बादशाहके जमानेमें हिंदू ग्रन्थोंकी तरह कितने ही महीनों तक जैनग्रंथराजसमुदाय गाँवोंकी तरह जलते रहे। भारतवर्षीयाध्यात्मिक क्षय करनेके लिये जो भारतके असंख्य ग्रंथभँडार पवनगणोंने नष्ट किये उसमें भी महाकाव्योंका प्रबल क्षय हुआ।

उस ग्रन्थराजोंके प्रक्षय युगके समय धार्मिक वीरोंने जो ग्रन्थराजि कंदरा गुहादि गुप्त स्थानोंमें छिपाकर रक्षा की थी, उसमें भी बहुग्रंथराशि हमारे विद्याप्रिय पश्चिमीय विद्वान् (जर्मनी, इंगलेंड, आस्ट्रेलियादिके रहनेवाले) प्रलोभन वा डरसे परतंत्र जैन संसार एवं न कर्तव्यपथसे विचलित भारतवर्षसे लेगये। इसमें भी वृहदवशिष्टभाग भट्टारकों, अन्य भँडारोंमें दीमक, अन्य कीटोंका आहार हो रहा है। अतः जो कुछ भी काव्यशास्त्र समुपस्थित है, उन जैन काव्यग्रन्थोंका महत्व मध्य पाठकोंकी ही भेंट करता हूं।

'जैन काव्यका महत्व' इस शब्दके उच्चारण करनेसे सहृदयके हृदयमें जो भाव प्रादुर्भाव होता है, वही 'जैन काव्यका महत्व' इसका विग्रहलभ्यार्थ है। इसमें शब्द हैं जैन-काव्य-महत्त्व।

यहां जैन शब्द संबंधी वाचक होनेपर भी इसका अर्थ सुलभ होनेसे इसके व्याख्यानको लक्षित न करके "काव्य" शब्दका लक्षण लिखनेको प्रारंभ करते हैं। किसी भी चीजका लक्षण या स्वरूपमें जबतक सम्पूर्ण ऊहापोह नहीं होता है; तब तक सहृदयोंके हृदयाकाशमें उस पदार्थकी सुनिर्मल ज्योति ठीक ठीक नहीं चमकती है। अब उस काव्यका लक्षण "काव्यप्रकाश" ग्रंथके रचयिताने इस प्रकार किया है-

करते हुए जैनालंकारिक काव्यका लक्षण अलंकारचिंतामणिके अनुसार कहते हैं।—

" शब्दार्थालंकृतोद्यं नवरसकलितं रीतिभावाभिरामं।
व्यंग्याद्यर्थं विदोषं गुणगणकलितं नेतृसद्वर्णनाढ्यं॥
लोकद्वन्द्वोपकारी स्फुटमिह तनुतात् काव्यमग्र्यं सुखार्थी।
नानाशास्त्रप्रवीणः कविरतुलमतिः पुण्यधर्मोरुहेतुम्॥

(अलंकारचिंतामणि)

यह जैन कवि श्रीमद्भगवज्जिनसेनाचार्यका कहा हुआ निर्दोष एवं च मान्य काव्यका लक्षण है। इस श्लोकका अर्थ इस प्रकार है—

शब्दालंकार, अर्थालंकारसे दीप्त, नवरस सहित, रीति और भावसे सुन्दर व्यंग्यादि अर्थवाला, दोषरहित गुणसहित नेताकी सद्वर्णनसे पूर्ण, इह तथा परलोकका उपकारी, पुण्यधर्मका बड़ा भारी कारण, ऐसे काव्यको नानाशास्त्रप्रवीण, अनुपम बुद्धिवाला कवि करै।

इस काव्यलक्षणसे लक्षित काव्य ही वास्तविक काव्य कहा जा सकता है। इस तरहके काव्यसे उपर्युक्त प्रयोजन अथवा अन्यत्रोक्त—

" धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
करोति कीर्तिं प्रीतिं च, साधुकाव्यनिषेवणं॥ (साहित्यदर्पण)

इस प्रयोजनकी सिद्धि हो सकती है।

अतः अब विचार करना चाहिये कि भारतीय काव्य भंडारोंमें ऐसे कितने काव्यरत्न हैं जो कि उक्त पूर्व लक्षण लक्षित हों। इसका विचार करनेके लिये सबसे पहिले " लोकद्वन्द्वोपकारी पुण्यधर्मोरुहेतुम् " इन दोनों विशेषणोंको हम उपस्थित करते हैं। जो पुण्यधर्मोरुहेतु है। वास्तवमें वही काव्यचिंतामणि उभयलोकका हितकारी होकर मनवांछित फलप्रद है।

अब हमको यह विचार करना चाहिये कि पुण्य और धर्मकी शिक्षा जिनसे मिल सकती है ऐसे काव्य कितने हैं। सर्व प्रथम हम अजैन नैषधादि लोकप्रसिद्ध सरस काव्योंपर ही दृष्टिपात करते हैं, तो उसमें एक पुरुषका स्त्रीके साथ किस तरहका प्रेम होता है और उसका कैसे निर्वाह होता है इत्यादि विषयोंको छोड़कर धर्मादि शिक्षाकी प्राप्ति नहीं हो सकती और जो जो प्रसिद्ध प्रसिद्ध काव्य हैं उनमें माघ किरातादि तथा रघुवंश कुमारसंभवादि हैं। उन्होंमें कोई तो शृंगाररस ही से लबालब भरे हुए हैं। कोई वीररस प्रधान तथा च कोई वंशवर्णनात्मक हैं। उसीको पुष्ट करते हुये ग्रंथान्त हुये हैं। उन्होंमें आदिसे अन्ततक अवलोकन करने पर भी धर्मोपदेशकी गन्ध भी नहीं मिलती। पूर्वोक्त प्रयोजनेच्छु हम जैनकाव्यमार्गमें पदार्पण करते ही उक्त प्रयोजनको पद पद पर

दृष्टिगोचर करते हैं। क्योंकि जैन काव्योंमें ऐसा कोई भी काव्य नहीं हैं जिसमें धर्मोपदेशके साथ साथ समग्र लौकिक व्यवहार दिखाते हुये अन्तमें मोक्ष प्राप्तिके लिये केवलीभगवान्के मुख निर्गत वचनावली सरस श्लोकोंसे सज्जित नहीं की गई हो। इस बातकी सत्यता प्रमाणित करनेके लिये हम उन्हीं सहृदयोंसे प्रार्थना करते हैं जिन्होंने उभय काव्य (जैन, जैनेतर) रसका आस्वादन गवेषणा पूर्वक किया हो। यही जैन काव्यका सर्व प्रथम सुख और शांतिको प्रदान करनेवाला महत्त्व है। इस सर्व प्रथम महत्त्वका हम लोगोंको कम मूल्य नहीं समझना चाहिये।

एक वार एक पंडितराजने ऐसा कहा था कि "धर्मप्रधान काशीनगरीमें अध्ययन करनेवाले काव्यरसिकवृन्दोंमें बहुतसे रसिक वेश्यागमनादि दुश्चरित्रोंको सेवन करते हैं। इसका खास कारण यही है कि उन काव्योंमें शृंगाररसकी प्रधानताके साथ २ योग्य शिक्षा, धर्मोपदेशका नितान्त अभाव है।"

वह काव्य अनेक प्रकारका होता है, किन्तु दृश्य, श्रव्यके भेदसे दो प्रकारका है। दृश्य नाटक प्रकरणादिको कहते हैं। और श्रव्य काव्यके भेद बहुतसे हैं। यथा—महाकाव्य, खंडकाव्य, चम्पू—गद्यकाव्य, आख्यायिका इत्यादि हैं। इन्होंमें खासकर काव्य शब्दका उच्चारण करनेपर लौकिक प्रतीति महाकाव्यकी होती है। इसी महाकाव्यमें जैनाचार्यसे कहा हुआ पूर्व काव्यका लक्षण याथातथ्येन घटता है। अतः नाटक, भांण इत्यादिसे उपर्युक्त काव्यलक्षणोंका प्रयोजन सुष्ठुतया, सिद्ध नहीं हो सकता। अतएव हम प्राधान्येन महाकाव्योंकी ही उत्तमता बतलायेंगे। इससे पहिले काव्यलक्षणमें **"नेतृसद्वर्णनाढ्यं"** यह जो विशेषण हैं इसका अर्थ नेताका जो सद्वर्णन है अर्थात् जिससे पूर्वोक्त धर्मार्थकाममोक्ष प्रयोजनोंकी सिद्धि हो सकती हो ऐसे वर्णनसे आढ्य=प्रचुर हो।

जिसके ऊपर कवि अपनी शब्दार्थालंकारोंसे विभूषित तथा गुणोंसे सुशोभित सरस्वतीको सजाता है वह नेता कैसा होना चाहिये? नेताका लक्षण "साहित्यरत्नाकर" में ऐसा कहा है—

"महाकुलीनत्वमुदारता च तथा महाभाग्य विदग्धभागे।
तेजास्विता धार्मिकतोज्वलत्वममीगुणा जाग्रति नायकस्य॥"

अर्थात् महाकाव्यका नायक वही होसकता है जो महाकुलीन और बड़ा भारी उदार और महाभाग्यशाली, अतिशय विदग्ध और महा तेजस्वी, धार्मिक हो। संसारमें उपर्युक्त गुणविशिष्ट महाकाव्यके नायकको अनुसंधान करते हैं तो हमको अष्टादश दोषरहित, अनंत चतुष्टयसुक्त तीर्थंकरोंको छोड़कर मानव जातिमें कोई भी दृष्टिगोचर नहीं होते। अतः द्वितीय सर्वोत्तम जैन काव्योंमें उत्तमता यही है कि प्रायः सम्पूर्ण महाका-

यद्यपि शैलके वर्णनके उदाहरणमें बहुतसे जैन महाकाव्य उपस्थित हैं, हम इसके उदाहरण स्वरूप महाकवि श्री हरिश्चन्द्रकृत धर्मशर्माभ्युदयका दसवां सर्ग सम्पूर्ण देना चाहते हैं क्योंकि कविने ऐसी उत्तमताके साथ शैल वर्णन किया है कि शायद ही किसी कविने ऐसा वर्णन अपने काव्यमें किया हो लेकिन लेख बृहद् न होनेकी चिंता हमको रोकती है, फिर हम इसका उदाहरण अवश्य देंगे।

" पत्राम्बुजेषु भ्रमरावलीनामेणावली सत्तमरावलीना।
पपौ सरस्याशुनरं गतान्तं न वारि विस्फारितरङ्गतान्तरम् ॥"

(महा. धर्मशर्माभ्युदय

इस पद्यमें यमकालंकारके साथ १ स्वभावोक्तिका कैसा मणिकांचन योग हुआ है यह देखकर चित्त गद्गद होता है। तथा च-

" दूरेण दावानलशङ्कया मृगास्त्यजन्ति शोणोपलसंचयद्युतीः।
इहोच्छलच्छोणितनिर्झराशया लिहन्ति च प्रीतिजुषः क्षणं शिवाः॥"

(धर्मशर्माभ्युदय)

पर्वत तपस्या करनेका प्रधान स्थान है। इस बातको दिखानेके लिये मोक्षनगरका अत्यंत दुर्गमार्गमें जिनेन्द्ररूपी सार्थवाहको प्राप्त कर अगाड़ी पैर रखनेके लिये यह पर्वत प्रथम स्थान है। यह रुपक शांतरसको पिलाता हुआ कैसा आल्हादकारी है।

ऋतु वर्णनका भी जैन महा काव्योंमें सर्वत्र वर्णन किया गया है। उसमें भी हरिश्चंद्र कविका चारुरीतियुक्त वर्णनके श्लोक प्रियपाठकोंकी भेंट अवश्य करेंगे।

" कतिपयैर्दशनैरिव कोरकैः कुरवकप्रभवैर्विहसन्मुखः।
शिशुरिव स्खलितस्खलितं मधुः पदमदादमदालिनि कानने ॥"

इस श्लोकमें वसंतका आगमन हास्य करते हुए शिशुके साथ उपमा देते हुए क्या ही अच्छा वर्णन किया है।

इसी तरह इसी ग्रन्थ धर्मशर्माभ्युदयमें ग्रीष्मवर्णनमें कुत्तोंकी जीभ निकलनेमें कविराजने क्या ही अच्छी उत्प्रेक्षा की है।

"इह शुना रसना वदनाद्बहिर्निरगमन्नवपल्लवचञ्चलाः।
हृदि खरांशुकरप्रकरार्पिताः किमकशानुकृशानुशिखाः शुचौ॥

(महा. धर्मशर्माभ्युदय)

तथा वर्षावर्णनमें भी इसी कविका उत्तम श्लोक उद्धृत करते हैं।

" भुवनतापकमर्कमिवेक्षितुं कलितकान्तचलद्युतिदीपिका ।
दिशि दिशि प्रससार कृषीवतां सह मुदारमुदारघनावलिः " ॥

(महा. धर्मशर्माभ्युदय)

इस श्लोकमें आकाशमें घनघटाका विचरण और विद्युत्का चमकना इस पर कवि उत्प्रेक्षा करते हैं । संसारको ताप देनेवाला सूर्य कहां चला गया यह देखनेके लिये मानों हस्तमें दीपक लेकर यह घनावली कृषकोंके आनन्दके साथ साथ दिशाओंमें फैल रही है ।

शरदकालके वर्णनमें भी इस कविका बुद्धिपाटव देखिये—

" हृदयहारिहरिन्मणिकिण्ठकाकलितशोणमणीव नभः श्रियः ॥
ततिरुदैक्षि जनैः शुकपङ्क्तिणां भ्रमवतामवतारितकौतुका " ॥

(महा. धर्मशर्माभ्युदय)

इस श्लोकमें शरदकालमें शुकावलीका वर्णन नभश्रीके गलेमें पद्मरागमणि जटित इन्द्रनीलमणियोंका हारसाम्य देतेहुए क्या ही अच्छा पद्य गाया है ।

तथा इसी कविका शिशिर वर्णनमें अनुपम श्लोक लीजिये—

" स महिमोदयतः शिशिरो व्यधादपहृतभ्रमरत्कमलाः प्रजाः ।
इति कृपालुरिवाश्रितदक्षिणो दिनकरो न करोपचयं दधौ " ॥

(महा. धर्मशर्माभ्युदय)

इस श्लोकमें शिशिर वर्णनके साथ प्रजापीड़क नरेश अर्थात् प्रजाओंका रक्त चूसने पर दूसरा दयालु कैसा स्वार्थ त्याग करता है इस बातको शिशिरकाल और सूर्यके छलसे कमला और दक्षिण कर शब्दको श्लिष्ट बनाते हुए कैसा विलक्षण विनिवेश किया है ।

पुष्पावचयके वर्णनमें एक शास्त्राभ्यासी सच्चरित्र अष्टदूससर्गसे अपने चरित्रसे च्युत होने पर दूसरा दर्शक कैसा आश्रयसे निष्प्रभ हो जाता है इस बातको श्लेषभंगीसे वृक्ष और वन, फूलमें कैसा घटाया है ।

" प्रमत्तकान्ताकरसंगमादमी सदागमाभ्यासरसोज्ज्वला अपि ।
क्षणान्निपेतुः सुमनोगणा यतो ह्यियेव विच्छायमभूत्ततो वनम् ॥ "

इसी तरह महाकाव्यका अष्टादश वर्णनीय हम कहां तक लिखें ? जिस तरहसे हमने श्रीयुत कविराज हरिश्चन्द्रजीके कुछ पद्य दृष्टांत रूपमें आपके सन्मुख पेश किये हैं उसी तरह यदि महाकाव्य चन्द्रप्रभचरित, पार्श्वाभ्युदय, यशस्तिलकचम्पू आदिका एक एक अत्युत्कृष्ट पद्य उद्धृत करें तो एक बड़ा भारी अद्वितीय ग्रंथ हो जायगा जो कि कविगणोंके लिये आश्चर्यवर्धक एवं च नया ढंगका शिक्षक होगा। लेख बढ़नेकी बीभत्सक भयसे हम इस विषयको यहींपर छोड़कर आगे बढ़ेंगे और अन्य अन्य विषयोंपर दृष्टिपात करते हैं ।

वास्तवमें कोई निरपेक्ष सज्जन सुहृदयवर काव्यपरीक्षक जिस समय निरपेक्ष चश्माको लगाकर यदि काव्योंकी उत्तमताका विचार करेगा तो हम इस बातको दावेके साथ कह सकते हैं कि जैन काव्योंकी ही सर्व प्रथम उत्तमता उसे ज्ञात होगी क्योंकि जैन काव्य-समुदाय, शब्दालंकार, अर्थालंकारोंके पुञ्जोंसे विभूषित एवं च नवरस सहित, सुरीति भावोंसे मनोहर, पद पदके व्यंगादि अर्थसे आश्चर्यको करनेवाला, गुणोंकी पंक्ति वद्धमालासे घिरा हुआ एक अद्वितीयताको लिये हुए है। वास्तवमें जिस समय मेघमालासे आच्छादित सूर्य रूपी जैन काव्यसमुदायकी एक किरण त्रैमासिक पत्र "जैनसिद्धांतभास्कर" में प्रकाशित हुई उसी समयसे ही जैनकाव्यकी उत्तमता सिद्ध हो चुकी थी। हम भी अपने पाठकवृन्दोंके लिये इस किरणको देकर समस्त हृदयकमलोंको प्रकाशित किये देते हैं:—

"तातां तातीं ततेतां ततति ततो तता तांति तांती ततत्ता।
तात्तातीतां तताती ततति ततितता तत्ततत्ते तितंतिः॥
तातातीतः तिलाती ततंतु ततिततां ततिता तूति तत्ते।
तांते तितो तुतात्ता ततुतति तुत्ततितां तन्तु तोत्त॥

यह श्लोक त्रैमासिकपत्र "जैनसिद्धांत भास्कर" में प्रकाशित हुआ था, और उसका अर्थ लगानेके लिये २५०) पारितोषिक मिलनेके लिये भी सूचना थी। अर्वाचीन दुनियांके समस्त संस्कृतके विद्वानोंमेंसे किसीने भी इसका अर्थ न लगा पाया। अवधिके पूर्ण होनेपर पत्रके सुयोग्य सम्पादक एवं च देशकी वेदीपर त्यागधर्मको करनेवाले देश-भक्त पद्मराजजी रानीवालोंने इसके लिये द्विगुणित पारितोषिक बढ़ाया पर भी आजतक किसी भी माईके लालने इस श्लोकका अर्थ न लगा पाया।

काशीके अन्दर काव्य विषयके उत्तम२ विद्वान् उपस्थित हैं जिन्होंने कि काव्य पढ़नेमें ही अपने जीवनको बिताया है। एक विद्वान् जिसने कि काव्यके बड़े२ ग्रंथ अध्ययन किये थे, तथा उनको ९८ चम्पू कंठस्थ थे, बोले कि यह श्लोक अशुद्ध है क्योंकि मैंने तमाम संस्कृत कोषोंके आधार पर इस श्लोकको १ माहतक लगाया है, किन्तु यह लगता नहीं है। इसपर एक सज्जनवृंदने कहा कि "प्राचीन ग्रंथोंके संग्रहस्वरूप ऐसे "जैनसिद्धांतभवन" आरामें जाकर इस श्लोकके अर्थको पढ़कर हे काशी नगरीके प्रधान काव्यपंडित! आप अपनी पंडितमानिताको त्यागकर जैन काव्योंका एक तरफसे ध्यान पूर्वक देखना प्रारम्भ कर दीजिये, आपको मंजिल मंजिलपर शब्दार्थालंकारोंकी कुटियोंमें नूतन रससे भरे हुए ऐसे गुणगणमय फल मिलेंगे जिनके कि आप स्वादको लेकर अपने जीवनको धन्य तथा च कृतकृत्य मानेंगे।"

श्लोकबद्ध शब्दोंसे की है। वास्तवमें हस्तिमल्लके विक्रान्तकौरवनाटककी नाट्यकलामें नैपुण्यको देखकर हृदय उनकी तरफ भक्तियुक्त हो जाता है।

प्रियपाठकवृंद! अब हम इस दृश्यभाग नाटकादिकी उत्तमताको सिद्धकर सिद्ध साध्यताको न बताकर आगे श्रव्यके ऊपर आप लोगोंके चित्तको आकर्षित करते हैं।

श्रव्य काव्योंमें द्विसंधानादि जैन महाकाव्योंमें काव्यके अष्टादश वर्णनीयका अनुपम, अद्वितीय निवेश करते हुए काव्य पढ़नेका अत्युत्कृष्ट उत्तम-फल सुखधाम (शांतिनिकेतन मोक्ष)की प्राप्तिके लिये प्रातःस्मर्णीय एवं च जगद्वन्दनीय केवली भगवान्के उपदेशको सन्निवेश करते हुए जो अद्वितीय महत्व अटकते हुए जगत्को बतलाया है इसको कहकर हम यहाँपर पिष्टपेशण नहीं करना चाहते, अतः हम आगे बढ़ते हैं।

प्रियपाठकवृन्द! ज्यों ही हम आगे बढ़नेको लेखनी चलाते हैं, लेखनी इकाइक रुद्ध होजाती है, क्योंकि लेखनी संचालक हस्त, अपने मन-नरेशकी आज्ञा (जैन महाकाव्य सागरोंमें ही यशस्तिलकचम्पू स्वयम्भूरमण समुद्र नहीं है बल्कि समस्त सांसारिक काव्योंमें यह स्वयंभूरमण समुद्र है) के खिलाफ जरा भी नहीं बढ़ना चाहते हैं। अतः मान्यवर पाठकवृंद इस प्राकृतिक नियमसे बद्ध हम जैन काव्यके अंश "चम्पू" की समालोचना बतलाते हैं। "चम्पू" की समालोचनाके लिये लेखनी उठनेपर "यशस्तिलकचम्पू" का नाम स्मरण आते ही हमारे आनंदरोमाँच खड़े होजाते हैं। क्योंकि हम एक एकसे उत्तम काव्यनिकुंजमें इस समय प्रवेश करते हैं जो कि चम्पूनिकुंजसे ही प्रधान नहीं है बल्कि जगत्के काव्य निकुंजमें कोई दूसरा काव्य-निकुंज इसकी सानीका नहीं है। प्रियपाठकवृन्द! यह हमारी अतिशयोक्ति नहीं है। यह बात काव्य रसास्वादी निरपेक्ष विद्वानोंने ही मानी है। इस प्रधान काव्यका हृद्य गद्यपद्य देखनेसे दूसरा ग्रंथ देखनेकी इच्छा ही नहीं होती। उसीमें ही गद्यकाव्य, पद्यकाव्यका आस्वाद उत्तम विस्तृत रीतिसे पाया जाता है। इसमें काव्य वर्णनीयका कोई भी वर्णन ऐसा नहीं है, जो अत्यंत उद्भट रीतिसे वर्णन नहीं किया गया हो। इसकी गद्य इतनी उत्तम है, कि कादम्बरी लज्जितके साथ साथ बिलकुल तुच्छ मालूम पड़ती है इसकी गद्यको लिखते हुए कविने एक ही मार्गका आश्रय नहीं लिया है, किंतु वर्णनीयके अनुरोधसे कहीं २ समास बहुल गौणीरीतिका सहारा लिया है। माननीय समालोचकवृंद! "दृष्टान्तेन स्फुटायते मतिः" इस आर्षसिद्धांतानुसार एक दृष्टांत देनेपर यह बात बिलकुल स्फुट हो जायगी। मेरे बहुत खोजनेपर "यशस्तिलकचम्पू" में से यह हृद्य गद्य आप लोगोंकी भेट करता हूँ। "यत्रोद्याने क्रीडासु सुन्दरी जनेनसह कामिनः रमन्ते" इसवाक्यमें जो उद्यान शब्द है उसका कविने कैसा अभूतपूर्व अद्वितीय मनोहर वर्णन किया है।

'यत्र च मधुकरकुटुम्बिनीनिकुरम्बाडम्बरचुम्ब्यमानमकरन्दकदम्बस्तम्बविलम्बितनिम्नितम्बिनीविम्बाधरपानपरवशविलासिनि, सुरतसुखोन्मुखमुखरपरिखेलत्सखीसरवानेकखगप्रेङ्खनखमुखावलिख्यमानफलितशिखरैः समीपशाखिभिः स्खलितप्रसंख्यानमखसंमुखीनवैरवानसमानसे, कितकितवसहचरोपरचितकरवाद्यलयलास्यमानमधुमत्तसीमन्तिनीसमालोकनकुतूहलमिलद्दनदेवताभराभुग्नककुभविटपिनि, वटविटपविटङ्कसंकटकोटरोपविष्टवाचाटशुकपेटकपठ्यमानेन विटविकटरताटोपचोटुपाटवेन विद्यमानमुनिमनःकपाटपुटसंधिबन्धे, विकिरकुलकहलवशविशीर्यमाणकुरवकतरुमुकुरमुक्ताफलितवितर्दिकावलिकर्मणि, चपलकपिसंघातलुप्यमानभराभिर्निर्भरविभ्रमारम्भसंभ्रमाभिर्भामिनीभिः परिरम्भ्यमाणनिभृतसरसापराधभङ्गे, भुजमूलपुलकवितरणरतकान्तकैतवान्तरायितयुवतिपुष्पावचितिनि, सरलद्रुमस्तम्भसंभूतसंभूतलताशोकततिविनिर्मितासुपीनस्तनलिखितपत्रलाञ्छितोरः स्थलरमणरसरभसोच्छलदुत्तालचलनासुलीलान्दोलासु विलसन्तीनां विलासिनीनां मुखरमणिमेखलाजालवाचलिमबहलपंचमालप्रिपल्लवितविरहवीरुधि, जम्बुकुञ्जकुञ्जरत्पारापतपतद्रङ्गसंदीपितमदनमददरिद्रितसुन्दरीसंभोगहुतवहे, कदलीदलातपत्रोत्तम्भनभारभरितभर्तृभुजाभोगसंभावनविकटकुचकुम्भमण्डलानामितस्ततो विहरन्तीनां रम्भोरूणामनवरतक्षणक्षणापमानमणिमंजीरशिञ्जिताकुलितनलकेलिदीर्घिकाकलहंससंसदि, रमणरतिरतवनितारतिरसोत्सेकविचलद्विकचविचर्किलपालम्बामोदसुरभितसुभगभुजङ्गनाभीवलीभगर्भे, तमालदलनिर्यासरसपूरितकरकिशलयपुटेन यमितनखलेखनीधारिणा खचरनिचयेन रच्यमानसहचरीकपोलफलकतलतिलकविचित्रपत्रभङ्गिनि, खलरतामियुक्तकुटहारिकातालुतलोत्तरलतररुतोत्प्लावितनिच्च (चु) लमूलविलनिलीनोल्लकवालकालोकनाकुलकाकोलकुलकोलाहलकाहले, बहलकोकिलप्रलापगलितलज्जस्यनिसर्गादुत्तालतरसुरतसंरम्भिणाः पण्याङ्गनाजनस्य कलगलोल्लसल्लोहलोल्लपितानुलपनपरसारिकाशावसंकुलकुलायकरलोपकण्ठजरठितामिनवाङ्गनारतिचेतसि माकन्दमञ्जरीमकरन्दविन्दुस्यन्दुदुर्दिनेन मुचकुन्दमुकुलपरिमलोल्लासिना प्रचलाफिकुलकलापसीमन्तोचितेन वातचातकेनाचम्प्यमानसुरतश्रमखिन्नखेचरीपयोधरमुखलुलितघनघर्मजलमञ्जरीजाले, निधुवनविधिविधुरपुरन्ध्रिकाधरदलदपितदीप्रमानाननचपकचारिवदरीकनीजसीधुनि, पुण्डेक्षुकाण्डमण्डसंपातिनीभिः पिङ्गपरिषद्भिश्चण्डतरमुड्डमरितडिण्डिमारवाकाण्डताण्डवितशिखण्डिमण्डले, मृद्वीकाफलगलनचटुलकामिनीकरवलयमणिमरीचिमेचकितकिंकिरातरागिनि, नालिकेरफलसलिलविलुप्यमानमिथुनगन्मथकलहावसानपयःपानातुच्छवाच्छे, कन्दुकविनोदव्याजविस्तारितविभ्रमेणतरुणजननंनिधानविवृद्धशृङ्गारमत्सरेण भ्रमविभ्रमोद्भ्रान्तभासत्परिमलमिलन्दसुंदरीसंदोहमण्डितापाङ्गपातेन विलोकिनी समाजेन यावकारुणचरणपांटलितवकुलालवालभूमिनि, रजनिरसपिञ्जरितकुचकलशमण्डलाभिर्महीरुहनिवहमहिलाभिरिव परिपाकपेशलफलविनतमध्यभिर्बीजपूरवल्लरीभिरपराभिश्च वृक्षौषधिवनस्पति-

लताभिरतिरमणीये, नरखचरामराणां मिथः संभोगलक्ष्मीमिव दर्शयति निखिलभुवनवनानां श्रियमिवादाय जातजन्मनि, रोध्रवरागवैद्रुचयचीरन्ध्रितकेतकीरजःपटलनिर्मलितकपोलदर्पणेनविविधकुसुमदलविनिर्मितललामकर्मणा कुटजकुड्मलोल्बणमल्लिकानुगतकुन्तलकलापेन तापिच्छगुलुच्छविच्छुरितशतपत्रीसृकसंनद्धचिकुरभङ्गिना मरुवकोद्भेदविदर्भितदमनकाण्डशिखण्डितकेशपाशेन प्रियालमंजरीकर्णकलितकर्णिकारकेसरविराजितसीमन्तसंततिना चम्पकवितविकचकर्च(काञ्च)नाविरचितावतंसेन माधवीप्रसूनगर्भगुम्फितपुन्नागमालाविलासिना रक्तोत्पलनालान्तरालमृणालवलया कुलशकोटेन (?) सौगन्धिकानुवद्धकमलकेपूरपर्यायिणा, सिन्दूरवारसरकुसुन्दरकदलीप्रवालमेखलेन शिरीषवशवाणकृतजघालंकारचारुणा मधुकानुविद्धवन्धूकधृतनूपुरभूषणेन अन्यासु च तासु तासु कामदेवकिलिकिञ्चितोचितासु क्रीणासु वद्धानन्देन सुन्दरी जनेन सह रमन्ते कामिनः " (यशस्तिलकचम्पू १ आश्वास)

भो काव्यरसिकगण! यह चम्पूकी वनक्रीड़ाके वर्णनका कुछ थोड़ासा अंश आप लोगोंकी सेवामें भेट है। जिससे कि आपको भलीभांति समझमें आसकता है कि चम्पू अद्वितीय ग्रंथ है। उपरिलिखित हृद्यगद्यमें कविने कैसी अनुपम अनुप्रासमाला पहनाई है। काव्य पाठकवृन्दोंको यह तो विदित ही होगा कि उपमा, विरोध, श्लेष, परिसंख्या आदिकी रचना तो प्रत्युत सरल है किन्तु अनुप्रासोंका बनाना उच्चतम भूषण है। कादम्बरी तथा माघकविके शिशुपालबधमें ऐसी अनुप्रासोंका अद्भुत छटाटोप नहीं पाया जाता। इस उपर्युक्त हृद्यगद्यमें पूज्याचार्यने जैसी अनुपम और अद्वितीय अनुप्रासमाला पहिनाई है उसी प्रकार प्रियकाव्यरसिकवृन्दोंके आस्वादके लिये माधुर्यगुण कैसा पद्य पद्यमें अद्भुत भरा हुआ है। जहाँतक आप काव्यसागरमें गोते लगायेंगे आपको यह बात अच्छी तरहसे ज्ञात हो जायगी कि माधुर्यगुण, उत्तमतासे जैन काव्योंमें ही पायाजाता है। शायद मैं इसका कारण जैन काव्योंके रचयिता आचार्यगणोंकी क्षमा, अहिंसा तथा वैराग्य समझता हूं। यह बात विना दृष्टांतके शायद आप लोगोंकी समझमें नहीं आवे। हम प्रसिद्ध जैनेतर काव्य "काव्यप्रदीप" के दो श्लोक इस बातके निर्णयके लिये देंगे—

"स्वच्छन्दोच्छलदच्छकच्छकुहरच्छातेतरास्मुच्छटा।
मूर्छन्मोहमहर्षिहर्षविहितस्नाहिकाह्नाय वः॥
भिन्द्याद्दुच्चदुदारदर्दुरदरी दीर्घादरिद्रद्रुम-
द्रोहोद्रेकमयोर्मिमेदुरमदा मन्दाकिनी मन्दताम्॥

(काव्यप्रदीप प्रथम उल्लास)

करनेमें शर्माते नहीं हैं यह अत्यंत घृणास्पद है। किंतु हम इस बातको बड़े अभिमानके साथ कहते हैं कि जैन काव्योंमें शृंगार रसको प्रायः निम्न स्थान ही मिला है। तथा शांति वीर करुणादि लोकोपयोगी रसोंको प्रधान स्थान मिला है। तथा जैन काव्योंकी रचना शृंगाररसको प्रधानकर संसारमें व्यभिचारादि अशुभ परिणामोंके निमित्त जैनेतर काव्योंकी तरह नहीं हुई, बल्कि लोकोपकारी विषयोंको उच्च स्थान ही मिला है। उदाहरणार्थ हम यशस्तिलकचम्पूको ही लेते हैं। इस काव्यमें जो दिनचर्या, ऋतुचर्या आदिका जो वर्णन किया है वह अत्यंत उत्कृष्ट है। किसी काव्यग्रंथोंमें तो यह विषय पाया जाता ही नहीं, बल्कि किसी भी वैद्यकग्रंथने ऐसी चारु सरल मधुररीतिसे वर्णन नहीं किया होगा। पाठकोंके विनोदार्थ हम चम्पूके कुछ श्लोक अवश्य देंगे—

स्थाल्यां यथा नावरणाननायामबद्धितायां च न साधुपाकः।
अनाप्तनिद्रस्य तथा नरेन्द्र! व्यायामहीनस्य च नान्नपाकः॥

अर्थ—हे राजन्! जैसे विना ढके हुए मुखवाली तथा नहीं डारी गई ऐसी स्थाली (बटलोई)में अच्छा पाक नहीं बनता तथैव विना निद्राको लिये हुए, तथा विना व्यायाम किये हुए पुरुषको अन्न नहीं पचता।

अभ्यङ्गः श्रमवातहा बलकरः कायस्य दार्ढ्यावहः।
स्यादुद्वर्तनमङ्गकान्तिकरणं मेदः कफालस्यजित्॥
आयुष्यं हृदयप्रसादि वपुषः कण्डूक्लमच्छेदि च।
स्नानं देव यथर्तुसेवितमिदं शीतैरशीतैर्जलैः॥ (यशस्तिलकचम्पू)

अर्थात्—हे देव! तैलमर्दन श्रम और वातको नाश करनेवाला है, और शिथिलताको निवारण करनेवाला तथा च शरीरको बलयुक्त करनेवाला है। तथा उबटन शरीरकी कान्तिको करनेवाला तथा च मेद, कफ, आलस्यको दूर करनेवाला है और हे देव! ऋतुके अनुकूल सेवन किया गया स्नान गर्म, ठंडे जलसे आयुके लिये हितकर, हृदयको प्रसन्न करनेवाला, शरीरकी खुजली, ग्लानिको नष्ट करनेवाला है।

दुर्मार्गयागातपितोऽम्बुसेवी, श्रान्तः कृताशो वमनज्वराहैः।
भगन्दरी स्यन्दविबन्धकाले गुल्मी जिहत्सुर्विहिताशनश्च॥

अर्थात्—घामसे पीडित ऐसा मनुष्य यदि जलको पीवे तो उसकी मन्ददृष्टि होजाती है, तथा मार्ग श्रान्त अर्थात् मार्गके चलनेसे श्रमको प्राप्त ऐसा मनुष्य यदि जलको सेवन करे तो वमन, बुखारको प्राप्त होवे, तथा मलावरोधसे सहित मनुष्य भक्षण करे तो भगन्दरी रोग होजाता है, तथा जो मनुष्य त्याग करनेकी इच्छा रखता हुआ भोजनसे अफरा हुआ भी खावे तो गुल्मी रोग होवे। (अपूर्ण)

स्नानं विधाय विधिवत्कृतदेवकार्यः ।
संतर्पितातिथिजनः सुमनाः सुवेषः ।
आप्तैर्वृतो रहसि भोजनकृत्तथा स्यात्
सायं यथा भवति भुक्तिकरोऽभिलाषः ॥ (यश०)

अर्थात् स्नानको करके विधिके अनुसार जिनेन्द्रार्चाको कर अपने अतिथिजनोंको संतुष्टकर, निराकुलचित्त होकर अच्छे वेषको धारणकर अपने हितजन गुरु आदिकोंसे युक्त एकान्तमें यदि भोजनको करै तो संध्याके समयमें उसकी भोजन करनेमें रुचि होती है ।

चारायणो निशि तिमिः पुनरस्तकाले
मध्ये दिनस्य धिषणश्चरकः प्रभाते ।
भुक्तिं जगाद नृपते मम चैष सर्ग-
स्तस्याः स एव समयो क्षुधितः यदैव ॥

अर्थात् हे राजन् ! चारायण नामक वैद्यने रात्रिमें भोजन करनेके लिये कहा है तथा तिमि नामक वैद्यने संध्याकालमें, धिषण नामक वैद्यने दोपहरके समयमें, तथा चरक-नामक वैद्यने सुबहके समयमें भोजन करनेको कहा है । लेकिन मेरा तो इस विषयपर ऐसा मत है कि जिसको जब भूख लगे उसी समय भोजन करे ।

अधिगतसुखनिद्रः सुप्रसन्नेन्द्रियात्मा ।
सुलघुजठरवृत्तिर्भुक्तपक्तिं दधानः ॥
श्रमभरपरिखिन्नः स्नेहसंमर्दिताङ्गः ।
सवनगृहमुपेयाद्भूपतिर्मज्जनाय ॥

अर्थात्–प्राप्त किया है सुखनींदको जिसने, अच्छी तरह प्रसन्न हैं इन्द्रिय, आत्मा जिसकी, तथा बहुत थोड़ी है जठरकी वृत्ति (क्षुधा) जिसकी, भोजनको पचाता हुआ ऐसा और बहुत श्रमसे खिन्न ऐसा भूपति, तैलको शरीरमें मर्दनकर स्नान करनेकेलिये स्नान-गृहको जावे ।

आदौ स्वादु स्निग्धं गुरु मध्ये लवणमम्लमुपसेव्यम् ।
रूक्षं द्रवं च पश्चान्न च भुक्त्वा भक्षयेत्किंचित् ॥

भोजनके आदिमें स्वादयुक्त, घृतयुक्त भारी भोजन करना चाहिये । बीचमें लवण-युक्त आम्लेके रससे युक्त भोजन करना चाहिये, पीछेसे रूक्षाहार करना चाहिये, तथा भोजन करके कुछ नहीं खाना चाहिये ।

शिशिरसुरभिघर्मश्वातपाम्भः शरत्सु, क्षितिप जलशरद्धेमन्तकालेषु चैते।
कफपवनहुताशा संचयं च प्रकोप ॥

हे राजन् ! शिशिर ऋतु (माघ फाल्गुन) में कफका संचय होता है, सुरभि (वसन्त चैत्र वैसाख) ऋतुमें कफका प्रकोप होता है, और घर्मऋतु (ज्येष्ठ, आषाढ़) में कफ शांतिको प्राप्त होता है, गर्मीमें वायु संचयको प्राप्त होता है, श्रावणमास, भादोमासमें पवन प्रकोप होता है, शरद ऋतु (आश्विन कार्तिक) में पवन शांतिको प्राप्त होता है शरदऋतुमें पित्त संचय होता है, मार्गशीर्ष पौष मासमें पित्त प्रकोप होता है, माघ फाल्गुन मासमें पित्त शान्त होता है ।

तदिह शरदि सेव्यं स्वादु तिक्तं कषायं ।
मधुरलवणमम्लं नीरनीहारकाले ।
नृपवर ! मधुमासे तीक्ष्णतिक्तं कषायं ।
प्रशमरससमथान्नं ग्रीष्मकालागमे च ॥

अर्थात हे सम्राटवर ! इस शरदऋतुमें मिष्टान्न, तिक्त, कषायरसको सेवन करना चाहिये, तथा नीरनीहार ऋतुमें मीठा नुनखरा आम्लेके रसको सेवन करना चाहिये । वसन्तकालमें तीक्ष्ण, तिक्त कषायरसको सेवन करना चाहिये, तथा ग्रीष्मऋतुके प्रारम्भ होने पर प्रशमरसान्न (मिष्टान्न) को सेवन करना चाहिये आदि लोकोपकारी विषयोंका इसमें बहुत ही योग्य रीतिसे वर्णन किया गया है । इस ग्रंथके अष्टमश्वासमें समस्त आचार जिनपूनाका वर्णन बड़े विस्तारके साथ तथा साहित्यकी लालित्यको दिखाते हुए जिस योग्य सुचारुरीतिसे किया है वह कोई दूसरे ग्रन्थमें नहीं मिलता । यह भी इसके अनन्यलभ्य महत्त्वके द्योतन करनेके लिये उदाहरण होगा अतः पाठकोंके मनोविनोदके लिये स्नानविधिका एक विशेषण दर्शाते हैं ।

" ॐ भक्तिभरविनतोरगनरसुरासुरेश्वरशिरःकिरीटकोटिकल्पतरुपल्लवायमानचरणयुगलम्, अमृताश्चनाञ्जनाकरविकीर्यमाणमन्दारनमेरुपारिजातसंतानकवनप्रसूनस्पन्दमानमकरन्दस्यन्दमेदुरमिलन्मत्तालिकुलेमलोपोत्तालितनिखिलपालक्षित्यापारगिलसः वरचक्रमारहेलाक्रालितवेणुवल्लकीपणवानकमृदङ्गझल्लरिहलत्रिविलतालझल्लरीभेरीमन्मामप्रभृत्यनवधिवाद्यपरतततानद्धवादनादनिवेदितनिखिलविष्टपाधिपोपासनावसरम्, अनेकामरविकिरत्तुलकीर्णकिशलयाशोकानोकहोल्लसत्प्रसवपरागपुनरुक्तप्रकलदिवपालहृदयपरागप्रसरम्, अखिलमुनेश्चर्वलांछनातपत्रत्रयशिखण्डमण्डनमणिमयुखरेखालिख्यमानमखमुखरखेचरीमालतलतिलकप्रभम्, अनवरतयक्षविक्षिप्यमाणोभयवक्षचामरपरम्परांशुजालधवलितविनेयजनपवनप्राप्तादचरित्रम्, अशेषप्रकाशितपदार्थतिशायीशारीरप्रभाप्रविषमुपितपरिपत्समास्तारमतितिमिरनिकरम्, अनवधिवस्तुविस्तारात्मसारकारासारविस्फारितसरस्वतीतरङ्गसंतर्पितसमस्तसत्त्वसरोजाकरम्, इमारातिपरिवृढोपशाह्यमानासनावसानहन्यमानकरपल्लविनविरत्पादपादपोपगम्, अनन्यसामान्यसमवसरणसमासीनमनुजदिविजमुनि-

प्रेमी जीवंधरको पत्र लिखती है। तथा विरहाग्नि दुःखसे दुःखित स्वामी जीवंधर उसका क्या उत्तर देते हैं—

मदीयहृदयाभिधं मदनकाण्डकाण्डोद्यतं
नवं कुसुमकन्दुकं वनतटे त्वया चोरितं।
विमोहकलितोत्पलं रुचिररागसत्पल्लवं
तदद्य हि वितीर्यतां विजितकामरूपोज्ज्वलः॥ जी० च० ४

तथा स्वामीजी उसके उत्तरमें पत्रद्वारा यह भेजते हैं,

" मम नयनमराली प्राप्य ते वक्त्रपद्मं
तदनु च कुचकोशप्रान्तमागत्य हृष्टा।
विहरति रसपूर्णे नाभिकासारमध्ये
यदि भवति वितीर्णा सा त्वया तं ददामि॥ जी० च० ४ लं०

काव्यरसिकमंडल! जरा निरपेक्ष दृष्टिपर पक्षपातका ऐनक न लगाकर कहिये। प्रेमी प्रेमिकाओंके ऐसे सुन्दर पत्र क्या, और किसी कविने अपने नेता उसकी प्रेमिणीके साथ करवाये हैं; इसका सौभाग्य जी० च० के रचयिता श्रीयुत महाकवि हरिश्चन्द्रजीको ही प्राप्त हुआ है।

पाठकों! "जीवन्धरचम्पू' उत्तमतामें प्रायः सम्पूर्ण उल्लेखनीय है। अतः और हमको उल्लेख करना चाहिये था किन्तु मंजलतक पहुंचनेमें मार्ग अभी विशेष तय करना है; अतः हम चम्पूको छोड़कर श्रव्यकाव्यके प्रधान भेद " महाकाव्य " में उत्तमता दिखाते हैं।

पाठकवृन्द! जिस तरह वैष्णव महाकाव्यपुंज आजकल आप लोगोंकी निगाहमें आते हैं उसी तरहसे जैनमहाकाव्य पुंज भी उससे किसी हालतमें भी कम नहीं है। यद्यपि मैंने लेखके पूर्व भागमें इस बातको दिखला दिया है कि बौद्ध तथा शंकराचार्य, महमूदगजनवी, औरंगजेब आदिके जमानेमें जैन ग्रन्थराजोंके साथ २ जैनकाव्योंका भी प्रक्षय हुआ था फिर भी इस प्रक्षय युगसे बृहदवशिष्ट काव्य भाग भारतमें उपस्थित हैं।

आप लोगोंको जो काव्य दृष्टिगोचर होते हैं वह प्रायः सम्पूर्ण निर्णयसागरके छपे हुए ही होंगे, क्योंकि जैनसमाज अपने धनके सामने ऐसे रत्नोंको थोड़ा ही कुछ मूल्यवान् समझती है? नहीं तो भारतादि देशोंमें रक्खे हुए अपने काव्यरत्नोंको प्रकाशित न करती? देखिये जितने भी जैन काव्य "निर्णयसागर"से प्रकाशित हुए हैं, वह सब जयपुरकी सरकारी लाइब्रेरीसे प्राप्त हुए हैं। यह लायब्रेरी प्राईवेट तथा अन्दर है। इस लाइब्रेरीमें जैन काव्योंकी उपस्थिति बहुत है, उसमेंसे बहुत थोड़े प्रकाशित हुए हैं किन्तु वैष्णव काव्य

निर्णयसागरमें बहुलतासे पाये जाते हैं इसलिये अपनी दृष्टिमें बहुत कम आते हैं, किन्तु यदि आप प्रकाशित तथा अप्रकाशित दोनोंको मिलाकर वैष्णव काव्योंसे तुलना करेंगे तो जैन काव्योंकी गणना किसी प्रकारसे भी कम नहीं हो सकती।

जैन महाकाव्य समुद्रके अन्दर जो विचित्र रत्न स्वरूप एकाक्षर वा द्वयाक्षरके श्लोक उपस्थित हैं, पाठकोंको हम उन्होंका सिंहावलोकन कराते हैं।

रौरोरा रैररैररेरी रोरो रोरुररेररिरः।
रुरूरूरुरूरूरोरारारीरैरुरोररम् ॥ (म० चन्द्रप्रभ १६ सर्ग)

अर्थ—चिल्लाते हुए शत्रुके त्यागशील कुबेरको, तिरस्कृत करनेवाले शत्रुको, चक्रोंके आक्षेपसे प्राप्त कर लिया (अथवा चक्राक्षेपोंके द्वारा शत्रुका शत्रु स्वयं आगया।)

" ककाकुकङ्ककेकांककोकिकोकैककुःककः।
ककुकौकःकाककाकरुकाकुकुककाङ्ककुः ॥ (महा० नेमिनिर्वाण)

अर्थात् देखिये विचित्र एकाक्षरसे समुद्रका कैसा सुन्दर वर्णन किया है।

कंकः किं कोककेकाकी किं काकः केकिकोऽककं।
कौकः कुकैककः कैकः कः केकाकाकुकांककं ॥ (महा० धर्मशर्माभ्युदय)

अर्थ—चक्रवाक हंसके समान गमन करनेवाला बगुलाके आकार तथा मयूरके समान स्वरूप धारण करनेवाले कौएके आकार, स्वर्ग, पृथ्वी जलमें अद्वितीय होकर कुटिलतासे मयूरके समान शरीरको समान बनाकर कुटिलतासे युद्ध करता भया।

" गंगोरगगुरुग्रांग गौरगोगुरुरुग्रगुः।
रागागारिगैरंगैरग्रेऽगं गुरुगीरगात् " ॥ (धर्मशर्माभ्युदय)

अर्थ—गंगा, शेषनाग तथा हिमालयके समान गौर वाणीवाले बृहस्पति तथा प्रखर है प्रकाश जिनका ऐसे बृहस्पतिके समान गानसे महानादके कारण विषके समान महानाद होता भया। (अर्थात् जिस प्रकार शरीरको विष दुख देता है इस प्रकार कर्णोंके लिये कटुक नाद)

रैरोऽरिरीरुरारा रोरुरारारिरैरिरत्।
रुरूरोरुरूरारारुरुरूरूरेररुरः ॥ (महाकाव्य द्विसंधान)

अर्थ—धन देनेवाले, और शत्रुओंके समूहको अच्छी तरहसे नष्ट करनेवाले, शब्द करनेवाले प्रतिविष्णु (श्री बलभद्र) बड़े २ आरोंको शत्रुओंके प्रति प्रेरित करते भये और शत्रुओंके हृदयको घायल करते भये।

यहां रामायण पक्षमें (द्वितीयार्थ) धन देनेवाले, शत्रुओंके समूहको नष्ट करनेवाले,

विनीयमानो गुरुणा हि नित्यं सुरेन्द्रलीलां लभते नरेन्द्र ॥
निगृह्णतो बाधकरान् प्रजानां भृत्यांस्ततोऽन्यान्नयतोऽभिवृद्धिम् ।
कीर्तिस्तवाशेषदिगन्तराणि, व्याप्नोतु वन्दिस्तुतकीर्तनस्य ॥
कुर्याः सदा संवृताचित्तवृत्तिः फलानुमेयानि निजोहितानि ।
गूढात्ममंत्रः परमंत्रभेदी भवत्यगम्यः पुरुषः परेषाम् ॥

(चंद्रप्रभ ४ सर्ग ३६–४२)

अर्थ–हे पुत्र उत्कृष्ट प्रभाववाली विभूतियोंको चाहते हो तो अपने जनों (प्रजा)को कभी दुःखित मत करो, क्योंकि नीतिज्ञ कहते हैं कि उन सम्पत्तिओंके आनेका प्रथम कारण जनोंका अनुराग ही है ।

(प्रजानुरंजन शासन शासन है, नहीं तो सब निश्शासन हैं)

[तथा सम्पत्तिओंका समागम निर्व्यसन राजाके होता है]

निर्व्यसन नरेशके सम्पत्तिओंका आगमन होता है, तथा राजाका निर्व्यसनत्व, अपने परिवारके वश करनेपर ही होता है, अपने परिवारके वशमें न करनेसे व्यसन (दुःख गरीय (अतिशय बड़ा) होता है । अपने परिवारके वशमें रखनेकी इच्छा रखनेवाला राजा कृतज्ञताके पारको प्राप्त होवे । क्योंकि दूसरे १ गुणोंसे सहित होने पर भी कृतघ्न (किये हुए ऐशानको न माननेवाला समस्त लोकको दुःखित करता है ।

कलिकालके दोषोंसे रहित हे राजपुत्र ! तुम धर्माविरुद्ध धन, कामकी वृद्धिको प्राप्त करो क्योंकि युक्तिसे धर्म, अर्थ, कामको सेवन करनेवाला नरेश इस लोक, परलोक दोनोंको सिद्ध करता है । अपने प्रमादको नष्ट कर अपने तमाम कार्य वृद्धोंकी अनुमतिसे सदैव करो क्योंकि वृहस्पतिसे विनीयमान (कहा हुवा) इन्द्र, सुरेन्द्र, लीलाको प्राप्त होता है, अथवा वृद्धसे विनीयमान राजा इन्द्रलीलाको प्राप्त होता है । प्रजाको बाधा करनेवाले ऐसे राज्यके नौकरोंको निग्रह, और प्रजाकी उन्नति करनेवाले ऐसे राज्य नौकरोंका अनुग्रह करनेसे वन्दिजनोंसे स्तुति होनेवाले ऐसे राजाकी (तुम्हारी) कीर्ति सम्पूर्ण दिशाओंमें व्याप्त होवेगी । (इस श्लोकके अनुसार वर्तमान नौकरशाही जो कि प्रजाको बाधा कर रही है, उसके लिये निग्रह स्वरूप असहयोग जिसका प्राण अहिंसा है करना जैन समाजका धर्म, कर्तव्य एवं च शुभनीति प्रतीत होती है ।

हमेशा अपनी चित्तवृत्तिको प्रकाशित मत करो जिससे कि तुम्हारे विचार केवल कार्यके फलसे अनुमान किये जांय; क्योंकि गूढ़ विचारवाला पुरुष जो है सो दूसरेके विचारको जान सकता है किन्तु दूसरे लोग उसकी मंत्रणाओंको नहीं जान सकते ।

प्रिय पाठक वर्ग विचारिये कितनी बढ़ी चढ़ी हुई उच्चकोटिकी राजनीति है, यदि

यह राजनीति काममें लाई जाय तो आज भारतवर्षकी यह दशा नहीं होती। प्रिय पाठकवृंद, मैं अब "धर्मशर्माभ्युदय"की उत्तमता दिखाता हूं। इस महाकाव्यके रचयिता श्रीयुत कविं हरिचन्द्रकी प्रशंसा बहुतसे प्राचीन विद्वानोंने की है; उसमेंसे हम "कादम्बरी"के रचियता श्रीयुत बाणकवि "हर्षचरित"में कहेगये पद्यको दिखाते हैं।

पदबन्धोज्ज्वलो हारी, कृतवर्णक्रमस्थितिः।
भट्टारहरिश्चन्द्रस्य, गद्यबन्धो नृपायते॥ (हर्षचरित)

प्रिय पाठकवृन्द! प्रसिद्ध बाणकवि भी कहता है कि पदबन्धोंसे उज्ज्वल, हारी, ऐसी भट्टारहरिश्चन्द्रकी गद्यबन्ध नृपकी तरह आचरण करती है। उन्हीं श्रीयुत कविराज हरिश्चन्द्रकृत यह एक मनोहर पद्यकाव्य है।

इसकी हम क्या प्रशंसा करें इसके प्रथम सर्गमें सज्जनदुर्जन वर्णन बहुत चारु-रीतिसे किया जाता है। उदाहरणार्थ हम दो पद्य उद्धृत करते हैं।

गुणानधस्तान्नयतोऽप्यसाधुपद्मस्य यावद्दिनमस्तु लक्ष्मीः।
दिनावसाने तु भवेद्गतश्री राज्ञः सभासंनिधिमुद्रितास्यः॥ धर्मशर्मा०

उच्चासनस्थोऽपि सतां न किंचिन्नीचः स चित्तेषु चमत्करोति।
स्वर्णाद्रिशृंगाग्रमधिष्ठितोऽपि काको वराकः खलु काक एव॥ ध.अ.

प्रिय पाठक वृंद! ऊपरके श्लोकमें श्लेषगर्भित स्वभावोक्तिको दुर्जनके लिये कैसा दिखलाया है सो विचारिये। तथा दूसरेमें दुर्जनके लिये कैसा अर्थांतर दिखलाया है।

तथा इसी तरह इस ही पहिले सर्गमें जम्बूद्वीप, सुवर्णगिरि तथा रत्नपुर नामके ग्रामका वर्णन पदलालित्य, अलंकार, रस, उपमा, उपमेय आदिसे अधिकतम सुन्दर बना दिया है। जो कि नैषध माघमें नहीं पाया जा सकता। तथा पांचवें सर्गमें स्वर्गसे उतरती हुई देवाँगनाका अत्यंत मनोहर ऐसा वर्णन किया है जो कि नैषध, माघमें उन देवांगना-ओंका ऐसा वर्णन ही नहीं मिलता तथा सुन्दरके साथ २ वृहदाविक्यके साथ किया है; जिसको कि बहुतसे महाकाव्यों सिर्फ ३–४ श्लोकोंसे किया होगा। तथा इसी तरह इस महाकाव्यके कुल दसवें सर्गमें विन्ध्याचल पर्वतका कैसा उत्कृष्ट उत्तम वर्णन किया है जो कि किसी काव्यके अन्दर नहीं पाया जाता है; तथा ११ वें सर्गमें ऋतुओंका वर्णन विशेष उल्लेखनीय है किन्तु हम उसका दृष्टांत स्वरूप देनेमें बिलकुल असमर्थ हैं; क्योंकि अभी बहुत दूर पड़ाव है;

अब हम हर्षकवि, श्रीयुत हरिचंद्र कविजीकी काव्यरचनाका मिलानकर "महा-काव्य" के भागको खतम करेंगे।

श्रीयुत हर्षकवि राजा नलकी विद्याके वर्णनमें कहते हैं—

"अधीतिबोधचरणाप्रचारणैः, दशः चतुस्रा प्रणेयन्नुपाधिभिः ।
चतुर्दशत्वं कृतवान् कुतः स्वयं, न वेद्मि विद्या सुचतुर्दश स्वयं ॥

अर्थ—महाराजा नल अधीति, ज्ञान, आचार, प्रचार से विद्याओंमें ४ पनेको करते तथा उन्होंने स्वयं १४ विद्याओंको प्राप्त कर लिया । मैं नहीं जानता कि राजा नलने १४ विद्याओंको कैसे प्राप्त किया ।

तथा कविवर हरिचन्द्रजी राजाकी विद्याका वर्णन करते हैं ।

ततः श्रुताम्भोनिधिपारदृश्वनो, विशंकमानेव पराभवं तदा ।
विशेषपाठाय विधृत्य पुस्तकं करान्न मुञ्चत्यधुनापि भारती (धर्म०)

अर्थ—श्रुतसागरके पारको प्राप्त ऐसे इस राजासे पराभव(हार)की आशंकासे ही मानों विशेष अध्ययनके लिये सरस्वती अपने हाथसे आज भी पुस्तकको नहीं छोड़ती है। विचारिये पाठक उभयकाव्योंकी उत्तमता । अब हम और भी इस विषयमें मिलान करते हैं ।—

हरिचन्द्र कवि राज्ञीके वर्णनमें कहते हैं:—

कृतौ न चेत्तेन विरंचिना सुधानिधानकुम्भौ सुदृशः पयोधरौ ।
तदङ्गलग्नोऽपि तदा निगद्यतां स्मरः परासु कथमाशु जीवितः ॥

अर्थ—उस सुव्रताके दो स्तन यदि ब्रह्माने अमृतके कोष नहीं बनाये । तो फिर कहिये उसके शरीरमें लगा हुआ मृत कामदेव किस तरह जीवित हो गया । तथा हर्ष कवि कहते हैं:—

अपि तद्वपुषि प्रसर्पतोऽमितैः कान्तिझरैरगाधितां ।
स्मरयौवनयो खलु द्वयोः ध्रुवकुम्भौ भवतः कुचावभौ ॥

अर्थ—कांतिरूपी झरनासे अगाधित दमयन्तीके शरीरमें विद्यमान कामदेव यौवनके लिये उसके कुचयुग तैरनेके लिये दो घड़ोंके समान होते भये ।

कपोलहेतोः खलु लोलचक्षुषो विधिर्व्यधात्पूर्णसुधाकरं द्विधा ।
विलोक्यतामस्य तथा हि लाञ्छनच्छलेन पश्चात्कृतसीवनव्रणः ॥

अर्थ—चंचल हैं चक्षु जिसके ऐसी राज्ञीमें ऐसे कपोलोंके कारणसे ब्रह्माने चन्द्रमाको द्विधा विभक्त कर दिया । अतएव कलंकके छलसे सिलाईका निशान दीख पड़ता है ।

तथा हर्षकवि कहते हैं—

'हृतसारमिवेन्दुमंडलं, दमयन्ती वदनाय वेधसा ।
कृतमध्यविलोक्यते, धृतगम्भीरवनीखलीलिम्" ॥

अर्थ—ब्रह्माने निश्चय करके दमयन्तीके मुखके बनानेके लिये चन्द्रमाका सब

पर रचा था। मेघदूत शृंगारमय है किन्तु अजितसेनजीने उस मेघदूतका एक २ या दो २ चरण लेकर शृंगाररससे बिलकुल वैराग्यरसमें परिणतकर वास्तवमें ताँबाको सोना बना दिया है। इस ग्रंथका सिर्फ एक श्लोक दिखाते हैं कि यक्ष नगरीमें मद्य पीनेका विधायक था। उसका कैसे ढँगसे निषेध किया है।

लोलापाङ्गा सुरसरसिकाः प्रोन्नतभ्रूविकाराः।
प्राणेशानां रहसि मदनाचार्यकं कर्त्तुमीशाः।
स्वाधीनेऽर्थे विफलमिति वा वा मनेना च यस्या।
मासेऽन्ते मधुरतिफलं कल्पवृक्षप्रसूनं॥ (पार्श्वाभ्युदय)

प्रियपाठकवृंद इसी तरह इस काव्यमें उत्तम २ श्लोकोंमें वैराग्यशिक्षा भरदी है।

तथा रत्नसिंह कविने अपने "प्राणप्रिय काव्य" भक्तामरका चतुर्थ पादलेकर समस्यापूर्तिकी कैसी खूबी दिखाई है वह यह एक उदाहरणसे आप लोगोंके समझमें आजायगी।

एतन्मदीरित वचः कुरुनाथ नो चेत्।
रोत्स्यत्यरं नरपतिः स्वयमुग्रसेनः।
कुर्वन्तमुत्तमतपोऽपि भवन्तमेषः।
नाभ्येति किं निजशिशो परिपालनार्थं॥

और भी जैन संसारमें बहुतसे खंडकाव्य है। जिनमेंसे उल्लेखनीय "जिनशतक" है जिसको कि स्वामी समन्तभद्रजीने बनाया है। आदिसे अन्ततक चित्रमय कविता है जिसके पद्य "अलंकारचिन्तामणी" में चित्रालंकार प्रकरणमें उद्धृत किये हैं, उसको और हम बताते हैं। हम उसके सिर्फ ३ या ४ पद्य उद्धृत करते हैं। प्रासादगुण विशिष्ट द्वयक्षर श्लोक शायद ही किसी जैनेतर काव्यमें पाया जाता हो। हम आपको वही दिखलाते हैं।

मानोनानामनूनानां मुनीनां मानिनामिनम्।
मनूनामनुनौमीमं नेमिनामानमानमन्॥

और भी प्रासादगुणविशिष्ट गत प्रत्यागत (सीधे वाचो तो वही और श्लोक उल्टे वाचने पर भी वही) देते हैं।

"नतपाल महाराज गीत्या नुतममाक्षर।
रक्ष मामतनुत्यागी जराहा मलपातन॥

ऐसे श्लोक बनानेमें अर्थक्लिष्ट दोष नहीं छूटता मगर यह दोनों श्लोक इतने प्रासादके हैं कि देखते ही अर्थ मालूम पड़ जाता है।

और भी १ श्लोक यह है कि जो सब चित्रों की खानि है ।–

"पारावाररवारापारा क्षमाक्ष क्षमाक्षरा ।
वामानाममनामावारक्ष मर्द्दर्दमक्षर ॥

इसका द्वितीयपाद मध्यपमक है । और अताल भी व्यंजन है । और अवर्ण ही स्वर है । गूढ़ द्वितीय पाद है (अर्थात् द्वितीय पादके अक्षर तीनों चरणोंके अन्दर पाया जाता है) और गत प्रत्यागत (अर्थात् प्रत्येक चरणको उल्टा सीधा बाँचे जाने पर कोई भी परिवर्तन नहीं होता) और अर्थभ्रम है ! अर्थात् प्रत्येक चरणका पहिला अक्षर और अंतका अक्षर मिलानेसे पहिला पाद बन जाता है ऐसा ही प्रत्येक पादका द्वितीय २ अक्षर, उपान्त्य जोड़नेसे द्वितीय पाद बन जाता है । ऐसा ही तृतीय और चतुर्थ चरण समझना और इसमें सर्वतोभद्र है । इसका चित्र नीचे दिया जाता है ।

(सर्वतो भद्रबंध)

पा	रा	वा	र	र	वा	रा	पा
रा	क्ष	मा	क्ष	क्ष	मा	क्ष	रा
वा	मा	ना	म	म	ना	मा	वा
र	क्ष	म	र्द्द	र्द्द	म	क्ष	र
र	क्ष	म	र्द्द	र्द्द	म	क्ष	र
वा	मा	ना	म	म	ना	मा	वा
रा	क्ष	मा	क्ष	क्ष	मा	क्ष	रा
पा	रा	वा	र	र	वा	रा	पा

इसी चित्र प्रकरणमें अलंकार चिंतामणि चक्रकी स्वनामगर्भित एक चक्रचित्र भी दर्शाते हैं इसमें " अजिसेनकृत अलंकारचिंतामणि भरतयशसि" यक किस चातुर्यसे निकलता है यह इस चित्रमें दिखलाया गया है ।

(यह चक्र चित्र न छप सकनेसे नहीं दिया गया है) इस चक्र चित्रका श्लोक इस प्रकार है–

अन्याकृत्यमलोवरो भवयमः कुर्वन्मतिं तापसे ।
तत्वा चित्यमतीशिता तवशितः स्तुत्योरुवाणि पुनः ॥
जिष्णूतष्फुटकीर्तिवारवशमः श्रेयोऽभिधे मण्डने ।
धीर स्थापय मां पुरो गुरुवर त्वं वर्धमानो रुधी ॥

खंडकाव्यमें क्षत्रचूड़ामणि नामक ग्रंथ है इसमें जो महत्त्व है यह किसी कविको नहीं मिला है । इसमें अर्द्धश्लोक मय जीवंधर अनुपम विचित्र चरित्र और अर्द्धश्लोकोंमें नीति है । वास्तवमें ऐसा नीतिशास्त्रका काव्य शायद ही संस्कृत काव्योंमें हो जब कि हम इसका स्वाध्याय करते हैं, तो यह मिलता है जिसको कि प्रातःकाल पढ़ना चाहिये ।

जीवित्तान्तु पराधीनाज्जीवानां मरणं वरं ।
मृगेन्द्रस्य मृगेन्द्रत्वं वितीर्णं केन कानने ।

अब हम आपको कालिदासके रघुवंशकी तथा क्षत्रचूड़ामणिकी नीतिका मिलान कराते हैं ।

प्रजानां विनयाधानाद्रक्षणाद्भरणादपि ।
स पितः पितरस्तासां केवलं जन्म हेतवः ॥
रात्रिंदिवविभागेषु यदादिष्टं महीक्षितां ।
तत्सिषेव नियोगेन, स विकल्प पराङ्मुखः ।
स वेलावप्रवलयां, परिखीकृत सागरं ।
अनन्यशासनमुर्वी, शशासैक महीमिव ॥ (रघुवंशे)
सुखदुःख प्रजाधीने, तदाभूतां प्रजापते ।
प्रजानां जन्मवर्ज हि, सर्वत्रपितरो नृपाः ॥
रात्रिंदिवविभागेषु नियतो नियतिं व्यधात् ।
कालातिपातमात्रेण, कर्तव्यं हि विनश्यति ॥
प्रबुद्धेऽस्मिन् भुवं कृत्स्नां रक्षयत्येव पुरीमिव ।
राजन्वती भूरासीदन्वर्थं, रत्नसूरपि । (क्षत्रचूड़ामणि)

मिलानकर देखिये कितना रस, लालित्य, सरलता क्षत्रचूडामणिमें टपकती है, "गद्यकाव्य" भी एक, काव्यका भाग है यद्यपि हृद्य हृद्य गद्यके दृष्टांतको पूर्वमें दे चुके हैं फिर भी "गद्यचिंतामणि" कादम्बरीसे पदलालित्य, सरसतामें उत्तम है । कादम्बरीमें वृथा ही असिद्ध शब्दोंको देकर, कठिनता बढ़ा दी है । हम ही इसबातको नहीं कहते । बल्कि एक निरपेक्ष प्रोफेसरका भी ऐसा ही मत है। हम उसके वाक्योंको नीचे उद्धृत करते हैं–

माननीय विचारशील सुहृत्तम पाठकवृंद ! जिस समय हम बहुविस्तृत हिन्दी जैन काव्यसागरकी तरफ दृष्टिपात करते हैं तो हमारी दृष्टि वहांसे हटती नहीं है। और वहां पर चंचल मनको भी अपने स्वभावको बाध्य होकर बदलना पड़ता है। और वह अपने द्वारपाल चक्षुयुगलको वहींपर खड़ाकर आप इस विस्तीर्णसागरमें मनोनीत माणिक्य-पुंजकी प्रबल ग्रहणेच्छासे प्रवेश होता है। धैर्य विभूषित सज्जनवृंद ! आप शांतचित्त होकर थोड़े समयके लिये आप भी इस अनंतसागरके तट पर एकाग्रचित्त हो बैठिये। थोड़े ही समयमें यह सेवक हिन्दी जैनकाव्योत्तमरत्नपुंज भेंटमें सम्मानित कर आपसे विदा लेगा।

प्रथम जिससमय हम जैन हिन्दीपुराण काव्य, आदिपुराण, महापुराण, हरिवंश-पुराण, पाँड़वपुराण, पुण्यास्रव, यशोधरचरित पुराण, आदि जैन पुराण काव्यनिकुंजमें घुसते हैं तो शब्दार्थालंकारोंकी शोभासे पूर्ण, एवं च नूतन नामागुणोंकी सुगन्धित माला-ओंसे सजे हुए एक ऐसे निकुँजमें पहुँचते हैं—जहां पर धर्म, शान्तिका वायुमण्डल प्रतिस-मय हमारे त्रस्त, चंचलहृदयको, अनुपमशान्त वैराग्यमें स्थित बनाता है। इस पवित्र निकुँ-जमें अधर्म, हिंसादुर्गन्धयुक्त वायुका प्रवेश अन्य परिकल्पित लिंग पुराणादिककी तरह कहीं भी किसी सूक्ष्मातिसूक्ष्म छिद्र द्वारा नहीं हो पाता, क्योंकि इन पुराणानिकुँजोंकी चारों दीवालें अहिंसारूपी ईंटों तथा शान्तिके गिलाओंसे बहुत मज़बूतीके साथ बनी हैं। जिस-तरहसे अन्यपुराणोंमें कपोलकल्पित, नितान्तासंभव, भ्रमोत्पादक तथा हिंसा घृणा क्रूरतादि विषयोंकी, अत्याधिक्य मर्यादाके उलंघन करनेवाला वर्णन पाया जाता है। जैसे कि ब्रह्माजी की उत्पत्ति पद्मजसे हुई है (१) सीता की उत्पत्ति विना माता पिताके हुई है (२) तथा एक गौमें ३३ कोटि देवता वास करते हैं इत्यादि असंख्य मिथ्या तथा विशेषवासनाओंके जालमें फँसानेवाली कथाओंका वर्णन जैसे वैष्णव पुराणोंमें पाया जाता है तैसा वर्णन भव्य, सभ्य, काव्यनिकुंजवृंदमेंसे किसी भी काव्यके सूक्ष्मतमांशमें भी अनुसंधानकारियोंके दृष्टिपथ नहीं होता। प्रायः इन वैष्णव पुराणोंकी ऐसी निर्मूल, अत्यंतासंभव हिंसासे आढ्यः (प्रचुर) देखकर ही हमारे यूरोपीयलोग मनगढंत, मिथ्या, भ्रमोत्पादक, मक्कारके वर्णनके लिये उपमाका काम लेते हैं। "अस्तु"। हम दृष्टांतस्वरूपमें इनके (जैन पुराणोंके) हृद्यगद्य इस लेखमें लिखकर इस लेखका वृह-दाकार न करेंगे। किंतु विलमें सदैव चुभनेवाले (हर्षोत्पादक) यशस्तिलकचरित पुराणके बारेमें अवश्य लिखेंगे। इस पवित्र पुराणको पढ़नेसे राक्षसी प्रकृतिवाले मनुष्यके भी हिंसासे घृणा होकर पवित्र अहिंसामय जीवनका संगठन होगा। तथा इस पुराणमें कविने किस सौन्दर्य अनुपम प्रहितासे वर्णन किया है कि पाठक महोदयोंके रोमांच खड़े होजाते हैं

इस बातको हमारे वन्दनीय स्वाध्यायिवर्ग तथा अन्य के विद्वान स्वाध्याय कर अपने हृदक्षेत्रोंमें विश्वस्तको वो सकेंगे। मैं अब पुण्याश्रवादि उत्तमोत्तम जैनकाव्योंकी उत्तमता बतलानेके लिये समय नहीं रखता। फिर भी काव्योत्तम पार्श्वपुराणवचनिकाके कुछ चुने हुए कुसुमोंसे आप सज्जनोंका सपर्या करताहुआ इस प्रकरणको समाप्त करूंगा।

वास्तवमें कविवर भूधरदासजीने श्री पार्श्वनाथ पुराणको काव्य दृष्टयां अति मनोहर काव्य बनादिया है। दृष्टांतके लिये हम उनका आद्यका स्तवन देते हैं—

भुवनतिलक भगवंत, संतजन कमल दिवाकर।
जगतजंतु बंधव अनंत, अनुपम गुणसागर॥
रागनाग मयमंत, दंत-उच्छेपन बलि अति।
रमाकंत अरहंत, अतुल जसवंत जगतपति॥

तथा च-विमलबोधदातार, विश्व विद्या परमेसर।
लछमीकमलकुमार, मार-मातंग-मृगेसर॥
मुखमयंक अवलोकि, रंक रजनीपति लाजै
नाममंत्रपरताप, पाप पन्नग डरि भाजैं॥

क्या ही आदरणीय तथा आलंकारिकाभूषणोंसे सज्जित है। पाठक क्षमा करें, हम इन कविकी इस लेखनशैलीकी उत्तमताको देखकर आश्चर्य होता है तथा हम इसी पुराणके और श्लोक कुछ देंगे जिससे कि इनकी विद्वत्ताका पूर्ण पता लगे—

जय अश्वसेन कुलचंद्र जिन, सक्र चक्र पूजित चरन।
तारो अपार भवजलधितें, तुम तरंड तारन-तरन॥
बाघ सिंह वस होयहिं, विषम विषधर नहिं डंकैं।
भूत प्रेत वेताल, व्याल वैरी मन संकैं॥
साकिनि डाकिनि अगनि, चौर नहि भय उपजावें।
रोग सोग सब जांहि विपत नेरे नहिं आवैं॥ (पा० पु०)

पाठक वृंद, कविकी इस अनुपम कवितामें शब्दालंकार, अर्थालंकारको देखकर क्या नहीं कह सकते कि जैनेतर काव्योंमें ऐसे पुराणात्न उपस्थित होंगे? अब इन्हीं कविका बनाया हुआ "जैनशतक" ग्रंथ है। इसकी उत्तमताका वर्णन क्या करें यह हिन्दीमें पद्यमय अत्युत्तम काव्य है जिसकी कि कुछ बानगी हम आपको देते हैं—

चितवत वदन, अमल चंद्रोपम, तजि चिंता चित होय अकामी।
त्रिभुवन चंद्र पाय तप चंद्रन, नमत चरन चंद्रादिक नामी।

तिहूं, जग छई चंद्रिका कीरति, चिहन चंद्र चिंतत शिवगामी ॥
वन्दौं चतुर चकोर चन्द्रमा, चन्द्रवरन चंद्रप्रभस्वामी ॥

इसी तरह और भी चतुर्विंशति स्तुति कैसी उत्तम की गई है इसको हमारे पाठकवृंद ही विचारें।

इस कविने यज्ञमें हिंसानिषेधार्थ कैसे अनमोल बोल कहे हैं—

कहै पशु दिन सुन यज्ञके करैया मोहि,
होमत हुताशनमें कौनसी बडाई है।
स्वर्गसुख मैं न चहौं "देह मुझे" यौं न कहौं,
घास खाय रहौं मेरे यही मन भाई है॥
जो तू यह जानत है वेद यौं बखानत है,
जज्ञ जलौ जीव पावै स्वर्ग सुखदाई है।
डारै क्यों न बीर यांमें अपने कुटुंब ही कौं,
मोहि जिन जारै जगदीश की दुहाई है॥

प्रिय पाठकवृंद! कविकी जब यह सरल, सयुक्ति यज्ञमें हिंसाका निषेध, अन्यमतावलम्बि देखते हैं तो दांतों तले उँगली दबा लेते हैं। बस इन कव्युत्तमके दो ही ग्रंथोंकी वानगी देकर हम आगे बढ़ते हैं। हम स्वर्गीय कविवर द्यानतरायजीकी कविताकी अब उत्तमता बतावेंगे। हम उदाहरणके लिये इनका "धर्मविलास" पेश करते हैं। वास्तवमें हिंदी संसारमें यह एक उत्तम पद्य ग्रंथ है। इसकी भी थोड़ी कुछ नमूनो भव्य पाठकोंके निमित्त पेश करता हूं। ज्ञानीका वर्णन आपने छप्पयमें इस प्रकार किया है—

धाम तजत धन तजत, तजत गजवर तुरंग रथ।
अरि तजत नर तजत, तजत सुखपति प्रमाद पथ॥
ओषि भजत अघ भजत, भजत सब दोष भयंकर।
मोह तजत मन तजत, सजत दल कर्म सत्रुवर॥
अरि चट्ट चट्ट सब कट्टकरि, पट्ट पट्ट महि पट्ट किय।
करि अट्ट नट्ट भवकट्ट यदि, सट्ट सट्ट सिव सट्ट लिय॥
तजत अंग अरधंग करत थिर, अंग पंग मन।
लखि अभंग सरवंग, तजत वचननि तरंग मन।
जित अनंग थिति सैलसिंग, गहिं भावलिंग वर।
तप तुरंग चढ़ि समा रंगरचि, करम जंग करि।

"गुण विचार शृंगार वीर उद्दिम उदार रुख ।
करुणा हास्य रस रीति, होंस हिरदै उछाह सुख ॥
अष्ट कर्मदल मलन, रुद्र बरते तिहि थानक ।
तन चिलेच्छ वीभत्स, बन्द दुख दशा भयानक ।
अद्भुत अनंत बल चिंतवन, शांत सहज वैराग ध्रुव ।
नवरस विलास परकाश तब, जब सुबोध प्रगट हुव ।

पाठक, जिस तरह जैनेतर कवि शृंगारन विषय पर ही कविता रचकर सुकवि बननेका दावा करते हैं । किन्तु हमारे कविश्रेष्ठ श्रीयुत बनारसीदासजीने उपर्युक्त पद्यमें आत्मामें ही नवरस अति सुंदर रीत्या घटित किये हैं । परब्रह्म स्वरूपका यह नवरस युक्त अपूर्व चिंतवन अविद्वानोंको अभूतपूर्व आनन्दमय बनाता है ।

ऐसी जैन कवियोंकी अनुपम सुन्दर कविता क्या अजैन काव्योंमें मिल सकती है? हम इन्हीं कविश्रेष्ठकी कविता ऐसी पेश करते हैं कि समस्त हिन्दी संसारमें इस ढँगकी कविता नहीं मिलेगी ।

भगवान पार्श्वनाथ और सुपार्श्वनाथकी स्तुतिमें आपको

(सर्वहस्वाक्षर) मनहरण

करम भरम जग तिमिर हरन खग ।
उरगलखन पग शिव मग दरसि ।
निरखत नयन भविक जल वरषत ।
हरषत अमित भविक जन सरसि ॥ १ ॥
मदन कदन जित परम धरम हित ।
सुमिरत भगत भगत सब डरसि ।
सजल जलद तन मुकुट सपत फन ।
कमठ दलन जिन नमत बनरसि ॥ २ ॥

(सर्व हस्वकारान्त) षट्पद

सकल करम खल दलन कमठ शठ पवन कनक नग ।
धवल परम पद रमन, जगत जन अमल कमल खग ।
परमत जलधर पवन, सजल घन समतन समकर ।
पर अघर जहर जलद, सकल जननत भव भय हर ॥
यम दलन नरक पद छयकरन, अगम अतट भव जल तरन ।
वर सबल मदन वन हरद हन, जय जय परम अभय करन ॥३॥

प्रिय पाठकवृन्द, विचारिये कैसी उत्तमतम कविता है। क्या ही पदलालित्य अर्थगांभीर्यमय एवं च अलंकारोंसे सुसज्जित है। इन कविश्वर श्रीयुत बनारसीदासजीद्वारा जैन काव्यपुंज बहुरेतासे रचा गया है। इन कविवरकी कविता देखकर श्रीयुत रामायण लेखक गोस्वामी तुलसीदासजी भी इनपर अत्यंत, प्रेम, श्रद्धा करनेलगे थे। एक दफे गोस्वामी तुलसीदासजीने अपनी "रामायण" की समालोचनाके बारेमें पूछा तब पुज्य कविवरजीने उत्तर दिया।

राग साँरंगवृन्दावनी।

विराजै रामायण घट मांहि, भरमी होय भरम सो जानै।
मूरख मानैं नाहिं विराजै, रामायण घट मांहि ॥ १ ॥
आतमराम ज्ञान गुन लछमन, सीता सुमति समेत।
शुभपयोग वा नर दल मंडित, वर विवेक रण खेत, विराजै० ॥२॥
ध्यान धनुष टंकार शोर सुनि, गई विषयदल भाग।
भई भस्म मिथ्यामत लंका, उठी धारणा आग, विराजै० ॥ ३ ॥
जरै अज्ञान भाव राक्षसकुल, लरे निकांछित सूर।
जूझे रागद्वेष सेनापति, संसै गढ़ चकचूर, विराजै० ॥ ४ ॥
विलखत कुंभकरण भव विभ्रम, चुलकित मन दरपाव।
थकित उदार वीर महिरावण, सेतुबंध समभाव, विराजै०
मूर्छित मंदोदरी दुराशा, सजग चरन हनुमान।
घटी चतुर्गति परणति सेना, छूटे छपक गुण वान, विराजै० ॥६॥
निरखि सकति गुन चक्रसुदर्शन, उदय विभीषण दीन।
फिरै कबंध मही रावणको, प्राणभाव शिरहीन, विराजै० ॥ ७ ॥
इह विधि सकल साधुघट अंतर, होय सहज संग्राम।
यह व्यवहार दृष्टि रामायण, केवल निश्चय राम, विराजै० ॥

तुलसीदास इस अनुपम आध्यात्मिक चातुर्यको देखकर अत्यंत प्रसन्न हुये और अपनी कविताको " निसी भी लायक भी नहीं " यह कहकर कविवरजीकी भक्तिसे " भक्ति विरदावली " नामक सुन्दर कविता (पार्श्वनाथ स्तोत्र)प्रदान की। वास्तवमें इन कविवरकी जितनी भी कविता कुसुम वाटिका है वह सब आध्यात्मिक गंधसे सुगंधित है। आपका बनाया हुआ " समयसार " कैसी सुंदर कविताओं आध्यात्मिक रससे भरा हुआ है इसके लिये हम आप लोगोंको एक पद्य भेंट करते हैं—

राम रसिक अरु रामरस, कहन सुननको दोय ।
जब समाधि परगट भई, तब दुविधा नहि कोय ॥
नंदन वंदन थुति करन, श्रवण चिंतवन जाप ।
पठन पठावन उपदिशन, बहुविधि क्रिया कलाप ॥
शुद्धातम अनुभव जहां, शुभाचार तिहि नांहि ।
करम करम मारग विषें, शिवमारग शिव मांहि ॥

और भी जैनसाहित्यमें अच्छे २ ग्रंथ हैं उनमें से श्रीयुत कवि वृन्दावनजीके पुत्र अजितदासने जैन रामायण जिसमें कि ७२ अध्याय हैं, रची हैं। काव्यदृष्टिसे यह भी अनुपम कविता है। इसमें तुलसीदासजीकी तरह निर्मूल विवेचन नहीं किये गये हैं।

जैनकाव्यनिकुंजमें "बुधजनसतसई" भी बहुत उत्तम ग्रंथ है। इसकी बानगी के लिये हम नीचे लिखते हैं—

आपने पहिले १०० श्लोकोंमें जिन स्तुति की है उनके दो श्लोक यह हैं—

तीन लोकके पति प्रभु, तीन लोकके तात ।
त्रिविधि शुद्ध वन्दन करूं, त्रिविधि ताप मिट जात ।
मन मोहो मेरो प्रभु, सुन्दर रूप अपार ।
इन्द्र सारिखे थकगये, करि करि नैंन हजार ॥

आगे जाकर इसी ग्रंथमें बहुत ही अच्छी २ शिक्षायें, तथा शुभ नीतिपुंज है। जिनको पढ़कर आश्चर्य होता है।

प्रिय पाठको, अब आपका समय नहीं लेना चाहता हूं बल्कि इसी कथनको उपसंहारसे कहता हूं।

संसारमें संस्कृत काव्यसागरके समान कोई भी काव्य इस जगतमें नहीं है, तिस संस्कृत काव्यसागरमें भी जैन काव्यसागर अत्यंत विस्तीर्ण है तथा इसके अन्दर वह वह रत्न उपस्थित हैं कि यदि काव्यरसिकवृन्दोंने इसको छाँना तो उन रत्नोंको प्राप्त होगी, जो कि जैनियोंके लिये ही वे भूषण नहीं होगे बल्कि इस १० कोटि जनसंख्यावाले भारतवर्षके लिये अनुपम प्रदर्शनीयका स्थान पावेंगे। तथा जैन हिन्दीकाव्यपुंज भी हिन्दी काव्यनिकुंजमें अनुपम, वैराग्यके रससे अमृतको पिलाता हुआ, दीन हीन भारतके रक्षक असहयोगकी जांन अहिंसाके सूक्ष्म तत्त्वोंकी शिक्षा देकर इतिहासमें अपना सर्वोपरि नाम लिखवा सकता है। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

भवच्चरणाम्बुजलग्न ।

स्वतंत्रेच्छुक—बनवारीलाल स्याद्वादी, शास्त्रीयखंड, मोरेना (ग्वालियर)

चमेली, आदि विचित्र पुष्पोंपर विहार करनेवाले काले काले भ्रमर, व प्राकृतिक नानाप्रकारके दृश्य, कनककर्णिकामय कनक पुष्प मनुष्यके संकुचित हृदयकमलको जैसे सगद्गद और हर्षित विकसित करते हैं, वैसे ही काव्यकुंजमें, शृंगार, वीर, करुणा, शांतादि रस, उपमा उपमेय चित्रादि विचित्र अलङ्कारोंसे मनुष्यका स्नेह-चित्त, शृंगार, वीर, करुणा, या शांतरसमें भीग जाता है। तथा वार २ उन आनन्द लहरियोंमें लहराया करता है। तदनुसार जैन काव्योंसे आनन्द और आनन्दके साथ २ अनुराग अनिर्वचनीय आनंदकी प्राप्ति होती है।

अब यहां पर यह प्रश्न हो सकता है कि काव्य क्या वस्तु है और इसकी क्या व्युत्पत्ति है ?

श्री जैन व्याकरण मतानुसार इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार हो सकती है कि " जिनो-देवता यस्य स जैनः जैनानां काव्यानि, तेषां महत्वमिति जैन काव्यमहत्वम् " अर्थात् जैन काव्योंका महत्व, अथवा जैन काव्येष्वेव महत्वम् जैनकाव्य महत्वम्। अर्थात् जैन काव्योंमें ही महत्व (खूबी) है, जैनेतर काव्योंमें नहीं है। अथवा केवल काव्य शब्दकी व्युत्पत्ति की जाय तो कि " वश्च अश्च इति वौ तौ व्येति प्रापोति तत् काव्यं अर्थात् आत्मसुख या स्वर्गादि सुख, मोक्षको प्राप्त करता है या कराता है उसे काव्य कहते हैं, क्योंकि "चतु-र्वर्गफलप्राप्ति काव्यादेव प्रवर्त्तते " अर्थात् धर्म, अर्थ, काम मोक्षकी प्राप्ति काव्यसे ही होती है। अथवा कस्य ब्रह्मणः विः पक्षी इति कविः कविरिव अयमिति कविः तस्य कर्म काव्यं अर्थात् जिस प्रकार हंस पक्षी दुध पानीका भेदकर सार भाग दुधको ग्रहण करता है, उसी प्रकार कवि विद्वान दुर्जनतादि हेय पदार्थोंको छोड़कर सार उपादेय मोक्षादि या तत्वोंको ग्रहण कर आत्मसुखमें निमग्न हो परमपदको प्राप्त करता है। अथवा काव्यका प्रथम अक्षर ककार ही लेते हैं, तब भी इसका स्थान सर्वोच्च सिद्ध होता है क्योंकि जैनेन्द्र महावृत्तिमें ककारका स्थान कण्ठ कहलाता है " अकुह विसर्जनीयाः कण्ठ्याः " अर्थात्—अ कवर्ग विसर्ग ये कण्ठ स्थानीय होते हैं, तथा यह व्यञ्जनोंमें प्रथम ही गणित होनेसे इसका सबसे वर्णोंसे विशेष अर्थ प्रतिपादकत्व है, यही कहा है कि—

" ककारः सर्ववर्णानां मूलं प्रकृतिरेव च, **काकाराज्जायते सर्वं कामं कैवल्य-मेव च** " अर्थात्—ककार सर्व वर्णोंमें मूल प्रकृति है और ककारसे सब काम तथा कैवल्य केवलज्ञान प्राप्त होता है। अथवा " कचते दीप्यते मस्तकोपरि शोभते " इति भावः। अर्थात् सर्वोत्कृष्ट जैसे मस्तकपर मणि शोभता है, वैसे ककारवर्ण शोभा सहित वांछित फलको देता है। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि (राजाप्तपर्यंतगुणोक्तिराजादिभ्यः कृत्ये च ट्यण) अर्थात्-इस जैनेन्द्र महाभाष्य सूत्रसे "ट्यण" प्रत्यय करके काव्य शब्द सिद्ध होता है।

अब यहां प्रश्न हो सकता है काव्य क्या वस्तु और क्या लक्षण है ? तो एक हिन्दी परिभाषासे विदित होता है कि—"परस्पर एक दूसरेको सहायता चाहनेवाले तुल्यरूप पदार्थोंका एक साथ किसी एक साधनमें लगा देना" काव्य कहलाता है। इससे संस्कृत भाषाके काव्य सहित सरलता, माधुर्य, रसाधिक्यता, मनोहरता, पदयोजना, अर्थगूढ, अक्षर अलंकार, भाव प्राचुर्य, कांति, प्रसन्नतादि गुण समझना चाहिये।

इसलिये कविकुञ्जरोंने काव्यका विलक्षण लक्षण विवेचना और गम्भीरतापूर्वक यही किया है कि:—

"चमत्कृतिजनकतावच्छेदकं धर्मवत्त्वं काव्यत्वम्।"

अर्थात—मनुष्यके हृदयको चमत्कार उत्पन्न करनेवाला धर्म ही काव्य कहलाता है।

अथवा—"रमणीयताप्रतिपादकार्थशब्दः काव्यम्।"

अर्थात—उत्कृष्ट तथा मनोहरताका प्रकट करनेवाला शब्द काव्य है, क्योंकि शब्द रमणीयता काव्यकी बाह्य छटावलरी है। प्रथम तो शब्द सौन्दर्य ही सहृदय हृदयी मानवोंको काव्य पढ़नेके लिये शीघ्र उत्सुक बना देता है। पश्चात् रस, भाव, तथा अलङ्कारादि मानस सरोवरमें स्वकीय काव्य कविता कलिकाका विकास करते हैं तथा काव्यका लक्षण इस प्रकार भी करते हैं कि:—

"चतुरचेतश्चमत्कारि कवेः कर्मकाव्यम्"

अर्थात—बुद्धिमान पुरुषोंको चमत्कार उत्पन्न करनेवाला कविका कर्मकाव्य शब्दसे व्यवहृत किया जाता है। अथवा—साहित्यदर्पणकारने इस प्रकार लक्षण किया है कि—"वाक्यं रसात्मकं काव्यम्" अर्थात इस शृंगार, वीर, आदि नवों ही रसोंसे युक्त काव्य कहा जाता है। यद्यपि यह लक्षण सर्व जगह व्याप्त नहीं होता है, तथापि यत्र कुत्र स्थानमें सुगठित होता है, क्योंकि बिना अलंकारसे, और निर्दोष बिना काव्य श्रव्य नहीं होता है इसलिये बाग्भट कविने इस प्रकार लक्षण किया है कि—

"शब्दार्थौ निर्दोषौ सुसगुणौ प्रायः सालङ्कारौ काव्यम्"

यहीं "काव्यप्रकाश" कारने लक्षण किया है कि—

"तददोषौ शब्दार्थौ सगुणौ अनलङ्कृति पुनः क्वापि"

अर्थात वाक्यार्थ पदादि दोषोंसे रहित, अलंकारोंसे युक्त, औदार्य, कांति, माधुर्यादि गुणोंसे युक्त शब्दार्थ काव्य कहा जाता है, क्योंकि रसात्मक वाक्योंके होनेपर भी सौन्दर्यादि गुणोंसे रहित और सदोष होनेसे काव्य प्रशंसाको प्राप्त नहीं होता, अतः उक्त लक्षणोंसे युक्त ही सत्काव्य होते हैं। तथा पदलालित्य, अर्थगौरवता विषयगूढ़ता, रसपूर्णता, सुन्दरता, हृदयरोचकता, और शान्तता आदि गुणोंसे युक्त काव्य है तो जैन काव्य है।

काव्यके मुख्यतया तीन भेद हैं परन्तु इनके आवान्तर बहुत भेद हो जाते हैं। वे ३ भेद इस प्रकार हैं कि "गद्यपद्यमिश्रश्च त्रिविधा" अर्थात् गद्यकाव्य, पद्यकाव्य, और गद्यपद्यमिश्रित, जैसे यशस्तिलक, जीवन्धर चम्पू आदि लेकिन यह सब काव्य, निर्दोष होनेपर ही श्रव्य होते हैं, क्योंकि एक कविका वचन है कि—

"श्रव्यं भवेत्काव्यमदूषणं यन्न निर्गुणं क्वापि कदापि मन्ये।
उत्कोरकः स्यात्तिलकाचलाक्ष्याः कटाक्षभावैरपरे न वृक्षाः ॥ १ ॥
("धर्मशर्माभ्युदय")

अर्थात्—निर्दोषकाव्य श्रव्य होता है, निर्गुण कभी नहीं, ऐसा मैं मानता हूं, जैसे कामनीके कटाक्षोंसे तिलक नामका वृक्ष कलियोंसे युक्त होता है, और दूसरे वृक्ष नहीं कोरकित होते। इसलिये निर्दोष काव्य सुकाव्य और श्रव्य होते हैं, और ऐसे ही काव्यों द्वारा वास्तवमें धर्म, अर्थ, काम, मोक्षकी प्राप्ति होती है। क्योंकि काव्य काव्यकुंजमें धर्म, अर्थ, काम मोक्षके लिये, अनर्गल अनावृत कपाट द्वार हैं। जो मनुष्य जिस वस्तुकी इच्छा करता है, उसके काव्य कुंजमें सरलतया प्रवेश हो जानेसे इच्छित पदार्थकी सिद्धि हो जाती है क्योंकि किसी कविके ये वचन हैं कि वे महात्मा धन्य हैं तथा उन्होंका यश सदाके लिये स्थिर है कि जिन मानवोंने काव्य कनक कटोरियोंका बनाया है, व उनमें जिन महानुभावोंकी कथा गाथा गाई गाई है, वे पुण्यवान, यशस्वी, कीर्त्ति कौमुदीके कौमुदीश कहलाते हैं"।

काव्य, कविता, जनताकी विद्वत्ताकी इयत्ता, सहृदयता, चतुरता, धार्मिकता, रचना-सुन्दरता, तथा उपम उपमेय इत्यादि भाव उसकी प्रतिमा पर प्रतिभासित कर देती है। काव्यके लक्षणानुसार पदलालित्य, सुंदरता, रोचकता, भावगम्भीरता, मधुरता, अनिर्वचनीयताके साथ २ हुआ करती है। इसलिये मनुष्य अपने २ अभीष्ट पदार्थोंमें संलग्न हो अभीष्ट सिद्धि प्राप्त करते हैं। फल भी इसका यही है कि—

"काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविधेशिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासंमिततयोपदेश युजे ॥ १ ॥ (काव्यप्रकाश)

अर्थात्—काव्य यश—कीर्तिके लिये, व्यवहार विधि, अकल्याणके नाशार्थ, दुःखनिवार्णार्थ, कांतासंमित उपदेशके हेतु—निमित्त किया जाता है, इससे यह तात्पर्य है कि श्री रामचंद्रादिकी तरह प्रवर्त्तना चाहिये रावण आदिकी तरह नहीं, कीर्ति आदि पूर्वोक्त गुणोंकी प्राप्ति, और व्यवहारादि दक्षता इसीसे होती है, इसीलिये हमारे प्राचीन कवीश्वर और कवि काचार्योंने काव्योंका प्रणयन तथा उपयोग किया। अतः पुरातन कालमें हिंसा, हीनता, हास्य, हिचक, ह्रास, हेना, (अपमान) हुंवाद और हठता आदि हेय दुर्गुणोंको जड़मूलसे उखाड़कर अहिंसा, हर्ष, हित, हितु, हिम्मत, होम इत्यादि हित करनेवाला काव्य कल्पना-

सुखपूर्वक विलोडन किया करते हैं। जिससे आत्माकी कालिमा, अपवित्रता, अरोचकता, अपमान, कुध्यान, घमसान, अज्ञान पलायमान होजाते हैं, और इसके अनन्तर दर्पणकी तरह जाज्वल्यमान, ज्ञानभानु प्रकाशित होजाता है, पश्चात् अनन्तसुख, वीर्य दर्शनादि गुण प्रकट होते हैं। तथा आत्मा कर्म समूहोंको नष्टकर मोक्ष पदवीको प्राप्त कर लेता है, खास यही बात जैन काव्योंमें बडे महत्वकी बतलाई है।

अब इसके बाद अलंकारोंके नियममें कुछ बता देना उचित समझता हूं। क्योंकि दोषोंसे रहित होनेपर भी तथा गुणोंसे संयुक्त होने पर भी विना अलंकारोंसे वाणी शोभाको प्राप्त नहीं होती है जिस तरह स्त्री विना आभूषणोंसे नहीं शोभित होती है। अतएव अलंकारोंका होना वैसे ही आवश्यक है, वे अलंकार उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, दीपक, आदि भेद प्रभेदोंसे नाना तरहके होते हैं। लेकिन मुख्य भेद दो ही हैं, शब्दालंकार, अर्थालंकार उपर्युक्त तो अर्थालंकारमें परिगणन किये हैं और शब्दालंकारके छः भेद हैं—यथा—चित्र, श्लेष, अनुप्रास, यमक, वक्रोक्ति, तथा पुनरुक्तवदाभास, ये छः होते हैं। यमकादि प्रायः सर्व-तोभद्रादिबन्धोंमें प्रायः श्लोकबद्ध होते हैं।

काव्योंकी रचना भी रीतिके अनुसार प्रीतिदायक होती है, इसलिये गौडीय, वैदर्भीय आदि देशकालके अनुसार करना चाहिये।

रसोंके बारेमें इतना ही कहना होगा कि जैनेतर काव्य प्रकाशादि ग्रन्थोंमें केवल आठ रसोंका विवेचन किया है, वह इस प्रकार है कि—" शृंगारवीरकरुणाद्भुतहास्यभयानकाः " इत्यादि पश्चात् लिखते हैं कि " शान्तोऽपि नवमो रसः " अर्थात् शान्त नामका भी एक रस है, इसमें अजैन कवियोंकी निर्पेक्ष बुद्धि है, अतः निर्पेक्ष बुद्धिसे ही यह वाक्य है। लेकिन जैन कवीश्वरोंने इसको खूब अपनाया है। यहां तक कि इनके प्रत्येक काव्योंके आदिमें, मध्यमें, अन्तमें, खूब ही वर्णन किया है, और वास्तवमें चाहिये भी यही क्योंकि इसीसे आत्माका कल्याण होता है।

श्री वाग्भटकवि अपने वाग्भटालंकारमें लिखते हैं कि—

" साधुपाकेध्यनास्वाद्यं भोज्यं निर्लवणं यथा।
तथैव नीरसं काव्यमिति ब्रूमो रसान्निह ॥

अर्थात्—जिस तरह भोजनका अच्छी तरह पाक होनेपर भी विना सैन्धव (नमक) के अच्छा नहीं लगता है, उसी तरह नीरस काव्य भी अच्छा और श्रव्य नहीं होता है। अतः यहां भी रस कहते हैं—

शृंगारवीरकरुणाद्भुतहास्यभयानकाः।
रौद्रबीभत्सशान्ताश्च नवैते निश्चिता बुधैः ॥

अर्थात्–विद्वान् पुरुषोंने शृंगार, वीर, करुणा, अद्भुत, हास्य भयानक, रौद्र, वीभत्स, और शान्त ये नव ९ रस कहे हैं। और इनके भी स्थायी भाव, अस्थायिभाव अर्थात् रति, हास्य, शोकादि भावोंका विस्तर किया है। इस प्रकार सम्बन्धादि फल, लाभादि पूर्वक यह "सूक्ष्म उपोद्घात" बाद हम जैन काव्य और इतर काव्योंको देखते हैं तो पदलालित्य, अर्थगौरव, शब्दगौरव, विषयगहनता, रसपूर्णता, सौन्दर्यादि गुण जैन काव्योंमें पाये जाते हैं, उतने अन्यमें नहीं पाये जाते हैं। यह बात जो विद्वान् व जिनके पास सज्ज्ञान पेटी रूपी कसौटी है वे स्वयं इस संदर्शन जान सकते हैं :–

दृष्टांतके लिये "कादम्बरी" नाम उच्च ग्रंथके कुछ अंश आपके समक्ष उपस्थित करता हूं। कादम्बरीके रचयिता वात्स्यायन वंशमें उत्पन्न कुवेर नामक विद्वान् उनके चित्रभानु और चित्रभानुके सुपुत्र श्री बाणकवि हैं। इन कविका समय काल अभी ठीक २ निश्चित नहीं हुआ है, किंतु इतिहासवेत्ताओंको तथा मुझे भी जहांतक पता चला है तो यही मालूम होता है कि राजा हंसवर्धनके समयमें ये कवि हुये थे। और हंसवर्धनकी सभामें प्रतिष्ठा प्राप्त की थी, उक्त राजाका समय (६१०) (६९०) है। इससे सिद्ध होता है कि इसी समयके करीब करीब हुये होंगे। इन कविकी प्रशंसा गणमान्य महुष्य बहुत करते हैं और चाहियें भी, लेकिन यह प्रशंसा तबतक ही ठीक होती है, जबतक इनसे अच्छा काव्य-कमल विकसित न हो, नहीं तो "निरस्तपादपे देशे एरण्डोऽपि द्रुमायते" अर्थात्–वृक्षरहित प्रदेशमें अंडीका वृक्ष भी वृक्ष माना जाता है। जैसे बाणकवि, अपने "कादम्बरी" नामक गद्य काव्यमें प्रथम ही राजा शूद्रकका वर्णन करते हैं कि–

आसीदशेषनरपतिशिरः समभ्यर्चितशासनः पाकशासन इवापरः, चतुरुदधिमेखलाया भुवो भर्त्ता, प्रतापानुरागावनतसमस्त सामन्तचक्रः, चक्रवर्त्तिलक्षणोपेतः, चक्रधर इव करकमलोपलक्ष्यमाणशङ्खलाञ्छनः, हर इव जिनमन्मथः, गुह इवाप्रतिहतशक्तिः, कमलयोनिरिव विमानीकृतराजहंससमण्डलः, जलधिरिव लक्ष्मी प्रसूतिः, इत्याद्येतादृशः शूद्रको नाम राजा।

अर्थात्–समस्तराजाओंपर शासन करनेवाला दूसरा इन्द्र ही हो, चार समुद्र मर्यादावाली पृथ्वीका स्वामी, प्रतापानुरागसे सामण्डलको अवनत कर दिया है, चक्रवर्त्तीलक्षणोंसे युक्त, श्रीकृष्णकी तरह हस्तकमलमें शंख, चक्रको धारण करनेवाला, अर्थात् हस्तमें शंख चक्र दि प्रशस्त चिन्होंसे युक्त था, श्रीकृष्ण भी साक्षात् २ शंख चक्रसे युक्त ही है, और महादेवकी तरह कामदेवको जीतनेवाला, अर्थात् कामदेवने भस्म कर दिया तदनुसार हमने भी उसे भस्म कर दिया, लेकिन यह बात असम्भव मालुम होती है, क्योंकि अगाड़ी चक्रके इस

राजाको साक्षात् कामदेव ही बना दिया है, और इस गद्यमें केवल वीररस, तथा उपमाका वर्णन किया है।

अब देखिये जैन कवीश्वर श्री हरिश्चन्द्र और श्री कविसिंह श्री वादीभसिंह जिनका सांस्कारिक नाम अजितसेन था, लेकिन पंडितोंने इनका प्रचुर पाण्डित्य देखकर "वादीभसिंह" यह नाम रक्खा। इनकी रचनाचातुर्यसे विद्वत्ता, वर्णनादि गुणोंसे प्रसन्न हो जब पण्डितोंने वादीभसिंह ये नाम रक्खा तो न जाने इनकी कितनी विद्वत्ता होगी। हम यहां पर श्री हरिश्चन्द्र कविके गद्यसे मिलान करते हैं, जिससे पाठक समझ जावेंगे कि किसकी गद्य रचनामें सौन्दर्य तथा पदलालित्य, अर्थगौरव है।

यश्च किल संक्रन्दन इव आनन्दितसुमनोगणः, अन्तक इव महिषीसमधिष्ठितः, वरुण इवाशान्तरक्षणः, पवन इव पद्मामोदरुचिरः, हर इव महासेनानुयातः, नारायण इव वराहवपुष्कलोदयोद्धृतधरणीवलयः, सरोज सम्भव इव सकलसारस्वतामरसानुभूतिः, भद्रगुणोऽप्यनागः, विबुधपतिरपि कुलीनः सुवर्णधरोप्यनादित्यागः, सरसार्थपोषक वचनोऽपि नरसार्थपोषकवचनः, आगमाल्याश्रितोऽपि नागमाल्याश्रितः, एतादृशः सत्यन्धरनाम राजा।

अर्थात्–महाकवि हरिश्चन्द्र राजाका वर्णन इस शैलीसे करते हैं कि राजा सत्यन्धर इन्द्रकी तरह देवता समूहको और (शब्दश्लेषसे बतलाते हैं) विद्वज्जनोंको प्रसन्न करता है, तथा देवताओंको ही प्रसन्न करता है, अतः इस राजामें इन्द्राधिक्य द्योतन किया, इतने ही वाक्यमें अतिशयोक्ति, श्लेष, उपमा, उपमेय, शब्द संदर्भ, अर्थ गौरव कितना है? यह आप स्वयं विचारें। अब आगे चलिये। कालकी तरह महिषीसे युक्त है, यहांपर भी वही बात है, अर्थात् राजा महिषी–रानी, और काल महिषी–भैंसयुक्त है। वरुणकी तरह दिशाओंको रक्षण करनेवाला है, अर्थात् वरुण देवताकी तरह है तो वरुण दिशाओंकी रक्षा करता है और आशाओं यानी इच्छाओंको अंत पर्यंत रक्षा करता है। वायुकी तरह कमलकी सुगंधसे युक्त है, अर्थात्–वायु पद्मकी आमोद सुगंधिसे रुचिर है और, यह पद्मा–लक्ष्मीसे युक्त है। महादेवकी तरह महासेनसे अनुयात है, अर्थात् महादेव, अपने पुत्र महासेन–कार्त्तिकेयसे युक्त हैं, और राजा महासेना, अर्थात् महतीसेनासे अनुयात हैं। श्री कृष्णकी तरह पृथ्वीको धारण करनेवाला है, अर्थात् श्री कृष्णने वराहावतार धारण करके पृथ्वीका उद्धार किया है, और यह राजा, वराहपुष्कलोदय–अर्थात् श्रेष्ठ युद्धमें पुष्कल–विशेष उदयसे धरणीवलयको धारण किया है। इत्यादि, देखिये किस चतुरता बुद्धिमत्तासे दोनों पक्ष घटाते हुये, रचना सौंदर्य, पदलालित्य, उपमा, उपमेय, विरोध, अतिशयोक्ति, व्यतिरेकादि अलंकारोंसे कैसी

दिशिनि हितविजयस्तम्भः इति, इत्यादि एतादृशो नाम सत्यन्धरो राजा।

इस गद्यमें बाणकविकी अपेक्षा वीर रस, समासभूयस्त्व, जो कि गद्यका खास गुण है, और इसीका नाम ओजगुण कहलाता है, क्योंकि "ओजः समासभूयस्त्वं तत् गद्येष्वति सुन्दरम्" अर्थात्—समासभूयस्त्व ओज गुण कहलाता है, वह गद्यमें अत्यन्त सुन्दर होता है, इस लिये इस गद्यमें विशेषतया समास भूयस्त्व, पदलालित्य दिया है।

श्रीबाणकवि अपनी कादम्बरीमें एक जगह महाश्वेता नामकी नायिकाके भावी पतिके मरणमें विलाप दिखलाते हैं। तथा महाश्वेता पतिमरणसे दुःखित हो विलाप करती है।

"हा अम्ब! हा तात! हा सख्य! इति व्याहरन्ती तथा हा नाथ जीवितनिरपेक्षं! आचक्ष्व क्व मामेकाकिनीमशरणमकरुणं विमुच्य यासि, ईक्षस्व मां विलोकय, आर्तास्मि, भक्तास्मि, अनुरक्तास्मि, बालास्मि, अगतिकास्मि, दुःखितास्मि, अनन्यशरणास्मि मदनपरिभूतास्मि"

पाठको! देखो कविने किस चतुरतासे वर्णन किया है, आप विचार सक्ते हैं कि इस गद्यमें अर्थ गौरव है? और कोई कारुणिक रस भी नहीं विशेष प्रतीत होता। यहां पर हम पूछते हैं कि "जब दुःखावस्था होती है तथा पतिमरणसे स्त्रीकी अत्यन्त ही दुःखावस्था हो जाती है, लेकिन बाणकवि वर्णन करते हैं कि माता पिता और सखियोंको सम्बोधन कर कि मैं दुःखित हूं, भक्त हूं, अनुरक्त हूं, अनाथ हूं, इत्यादि कहकर कवि अन्तमें कहते हैं कि "मदनपरिभूतास्मि" अर्थात्—कामदेवसे परिपीड़ित हूं, देखो, विचित्र बात है कि जो स्त्री पतिमरणसे दुःखित है वह ऐसा वाक्य कैसे कह सकती है? मेरी समझसे तो कोई न कहेगा, यह केवल श्रीबाणकविकी न्यूनता है।

अच्छा, अब इसीका वर्णन कविसिंह श्रीगदीमसिंहने किया है। हा, मनोनाकार रूप! हा, महागुण मणिद्वीप! हा, मानसविहारराजहंसस्वरूप! हा मदनकेलिचतुरभूप! मम पृथ्वैरूप! कासि कासीति विलपन्ती, शोकविषमोहिताङ्गीं लतामूर्छां प्रत्यापयन्ती काचित् देवता गिरमुत्थापयामास।

इस रचना शैलीको आप जान सक्ते हैं किस सौन्दर्यसे, पदलालित्य तथा कारुणिक रससे कविने वर्णन किया है। और भी देखिये कि कहीं २ इनका गद्य बिल्कुल मिश्रता है, सम्भव भी है कि इन्होंने इससे सहायता ली हो। जैसे—

"वत्स! बलनिषूदनपुरोधसमपि स्वभावतीक्ष्णया धिषणया धिक्कुर्वति सर्वपथीनपाटित्ये भवति पश्यामि नावकाशमुपदेशानाम्, तदपि कथञ्चिदवसहस्रेणापि कवलयितुमशक्यः, प्रलयतरणिपरिषदाप्यशोष्यो यौवनजन्मा स्नेहमहोदधिः, अशेषभेषजप्रयोगवैफल्य

निष्पादनदक्षो लक्ष्मीकटाक्षविक्षेपविसर्पो दर्पज्वरः । मन्दीकृतमणिमन्त्रौषधिप्रभावः प्रभावनाटकनटनसूत्रधारः स्मरापस्मार इति किंचिदिह शिक्ष्यसे ।" (गद्यचिंतामणि)

बस, ऐसा ही बिल्कुल वर्णन शब्द परिवर्तन कर बाणकविने किया है । जैसे—

"तात चन्द्रापीड ! विदितवेदितव्यास्याधीतसर्वशास्त्रस्यते नावल्यमुपदेष्टव्यमस्ति, केवलं च निसर्गत एव भानुभेद्यमतिगहनं तमो यौवनप्रभवम्, दारुणो लक्ष्मीमदोऽत्यन्ततीव्रोदर्पदाहज्वरोष्मा, असन्त्रगम्यो विषमो विषय विषस्वादयोह इत्यतो विस्तरेणाभिधीयसे ।"

(कादम्बरी)

और भी बहुतसी जगह मिलान पाया जाता है । गद्यचिन्तामणिमें शान्त रस बतलानेके लिये, विषय वासनादि छुड़ानेके लिये शिक्षा दी है कि—

" अभिनवविहंगलीलावनं यौवनं, अनङ्गभुजङ्गरसातलं सौन्दर्यं, स्वैरविहारशैलूषवृत्तस्थानमैश्वर्यं, पूज्य पूजाविलङ्घनलघिमजननी महासत्वता च प्रत्येकमपि भवति जननामनर्थाय, चतुर्णां पुनरेतेषांमेकत्रसन्निपातः सद्म सर्वानर्थनाभित्यर्थेऽस्मिन् कः संशीति"।

(गद्यचिन्तामणि)

इसी भावको लेकर बाणकविने लिखा है कि—

" गर्भेश्वरत्वमभिनवयौनवत्वमप्रतिमरूपत्वममानुषशक्तित्वं चेति महतीयमनर्थपरम्परा, सर्वतः नामेकैकमप्येषायतनम्, किमुत समवायैः "

(कादम्बरी)

काव्यप्रेमियो ! यदि फिर भी निष्पक्षपात दृष्टि इन गद्योंपर डालेंगे तो अवश्य स्फुट रीतिसे मालूम हो जायगा कि कादम्बरीकी रचना गद्यचिन्तामणिसे मिलती है, और संभव है कि इन्होंने कुछ अंश लेकर वर्णन किया हो, और यह भी बात है कि इनका ऐसा करने पर भी वादीभसिंहकी रचना और पदलालित्य, सौन्दर्यसे कहीं अधिक न्यून है ।

अब हम कादम्बरीकी विशेष आलोचना, मिलान करके एक बातका संदर्श और करा देना उचित समझते हैं, वह यह है कि—इसमें अर्थकाठिन्य, शब्दकाठिन्य कहीं २ इतना है कि प्रकृत कथाभाग भी स्मरण रखना मुश्किल पड़ जाता है, और सरलता भी इतनी है कि हितोपदेशादिकी तरह गद्य कह डालते हैं—अर्थकाठिन्यका एक उदाहरण देते हैं कि—

" कुमुदिन्यपि दिनकरकरानुरागिणी भवति " इत्यादि—

अर्थात्—कुमुदिनी चन्द्रमाकी किरणोंसे अनुरागिणी होती है, ये यहांपर प्रकृत अर्थ

है, परन्तु दिनकर शब्दसे सूर्य का अर्थ द्योतक होता है, चन्द्रमा नहीं, सो यहांपर चन्द्रमा यह अर्थ लगाया है, और इस अर्थके लिये बड़ी खींचतान की है, अच्छा मान भी लिया जाय किसी तरह यह अर्थ तो यहां अप्रसिद्ध नामका दोष आता है, जो काव्यके सारे महत्वको घटा देता है। खैर, इसे विद्वान् संकेतमात्र ही समझकर श्री बाणकविकी विद्वत्ताकी इयत्ताका परिचय पा लेंगे। क्योंकि विद्वानोंको संकेतमात्र काफी होता है। यह मेरा ही मत नहीं है बल्कि इस विषयमें अच्छे २ मनुष्योंने हस्तक्षेप किया है। जैसे प्रोफेसर वैबर बाणकविकी गद्यपर अपने विचार प्रकट करते हैं कि—

"Bana's prose is an Indian wood when all progress is rendered impossible by the under-growth, until the traveller cuts out a path for himself and where even then he has to reckon with malicious wild beasts in the shape of unknown words affright him."

अर्थात् जैसे हिन्दुस्तानके जंगलमें उन सघनवृक्षोंके बीचमें पैदा हुई छोटी २ झाड़ियोंके मारे रास्तागीर गमन करनेमें असाध्य हो जाता है, और किसी तरह मार्ग निकाल भी लेता है तो दुष्ट भयंकर जन्तुओंसे पिंड छुड़ाना पड़ता है, उसी तरह बाणकविके गद्यमें अप्रसिद्ध शब्दोंके मारे कथोपयोगी भाग समझना मुश्किल पड़जाता है, और यदि वह मेहनतसे अर्थ निकाल भी लेता है तो अप्रसिद्ध और कठिन शब्दोंके समझनेके लिये पृथक् कष्ट उठाना पड़ता है। वास्तवमें यह बात अक्षरशः सत्य है।

अब श्री कालिदास कविके विषयमें इतना कहना ठीक होगा कि इनका समय सर्व सम्मत (६३४) है। इनके जीवनचरित्रसे आबालवृद्ध परिचित ही हैं। यहांतक कि कालिदासको कविकुलगुरु कहते ही हैं, कोई १ तो ऐसा कहते हैं कि यदि कालिदास केवल "मेघदूत" नामक काव्य बनाते तो भी इनका यश संसारमें चिरस्थायी रहता, लेकिन इन्होंने, "अस्ति कश्चित् वाग्विशेषः" इस वाक्यपर ३ काव्य बनाडाले, जो आजकल बहुत ही प्रसिद्ध हैं। जिनके नाम, रघुवंश, मेघदूत, कुमारसम्भव हैं। लेकिन नहीं कह सकते कि इन्होंने भी वैसाही काट छांट किया हो, किन्तु इस बातसे अवश्य प्रतीत होता है कि सम्भवतया जहां तहां किया हो, क्योंकि राजा भोजराजके स्वर्गारोहणकी बात सुनकर दुःखित कालिदासजीने ये कहा था कि—

"अद्याधारा निराधारा निरालम्बा सरस्वती।
पण्डिता खण्डिता सर्वे भोजराज दिवं गते॥

अर्थात्—राजा भोजके स्वर्ग जानेपर, पृथ्वी निराधार, सरस्वती आलम्बनरहित, पण्डित खण्डित, ये सब बातें एक साथ होगईं।

भगवज्जिनसेनाचार्य कहते हैं–

" पुराणकविभिः क्षुण्णे कथामार्गेऽस्ति मे गतिः ॥ "

अर्थात्–पूर्व कवियोंसे शुद्ध किये कथा मार्गमें मेरी गति हो जायगी ।

श्रीजिनसेनाचार्य—

" क्व गंभीरः पुराणाब्धि क्व मद्बोध दुर्विधः ।
सोऽहं मेहोदधिं दोर्भ्यां तितीर्षु यामि हास्यताम् ।

अर्थात्–गंभीर पुराण समुद्र कहां, और मुझ सरीखे दुर्बोध जन कहां, वह मैं बाहुओंसे बड़े भारी समुद्रको तैरनेकी इच्छा करने वाला हास्यताको प्राप्त होऊंगा ।

श्री कालिदास–

क्व सूर्यप्रभवोवंश क्व चाल्पविषया मतिः ।
तितीर्षु दुस्तरं मोहाडुडुपेनास्मि सागरम् ॥

अर्थात्–सूर्यवंश कहां, और अल्पविषयी बुद्धि कहां, लेकिन सूर्यवंशका वर्णन करना मानो मोहसे दुस्तर समुद्रको टूटी नौकासे पार करना है ।

कालिदास कुमारसम्भव नामक काव्यमें रचना करते हैं कि–

असंभृत मण्डनमङ्गयष्टेरनासवाख्यं करणं मदस्य ।
कामस्य पुष्पव्यतिरिक्तमस्त्रं बाल्यात्परंसाथवयंप्पपेद ॥

महाकविहरिश्चन्द्र अपने धर्मशर्माभ्युदयमें कल्पना करते हैं कि–

असंभृतं मण्डनमङ्गयष्टे नष्टं क्व मे यौवनरत्नमेतत् ।
इतीव वृद्धो नतपूर्वकायः पश्यन्नधोऽधो भुवि चम्भ्रमीति ॥

अर्थात्–अङ्गयष्टिका विना प्रयत्न सिद्ध यौवनरूपी रत्न कहां नष्ट हो गया इसी लिये ही क्या नम्र काय होकर वृद्ध मनुष्य देखता हुआ पृथ्वीपर घूमता है ।

अब यहां पर विचारनेकी बात है कि "असम्भृतं मण्डनमङ्गयष्टे " इतना पूरा पद कालिदासने कुमारसम्भवमें जोड़कर श्लोक तैयार किया है, तथापि, हरिश्चन्द्रकविकी रचना, सौन्दर्य, अलंकार, उत्प्रेक्षामें कम ही हैं ।

श्री माघकविको भी सारा संसार जानता है, क्योंकि यह बात प्रसिद्ध ही है कि "काव्येषु माघः कविकालिदासः" अर्थात् काव्योंमें माघ काव्य, और कवियोंमें कालिदास प्रसिद्ध हैं । आपको कालिदासके बारेमें पूर्ण परिचय मिल ही गया है, माघकविकी इस प्रसिद्धिके साथ २ यह भी बात है कि माघकविके श्लोक अग्निसाक्षात्कार बनाकर लिखे गये हैं, तथा जो दूषित हों श्लोक हों वे इस अग्निमें जल जावें, ऐसी कविकी प्रतिज्ञा थी, अब हम नहीं कह सकते यह बात कहां तक सच है, क्योंकि इतने श्लोक दूषित हैं कि

साधारण व्याकरण जानने वाला जान सकता है। जैसे–

"संमूर्च्छदुच्छ्रूढबलशंखनिस्वनः स्वनुप्रयातेपटहस्य शार्ङ्गिणः।
सत्पाणि निन्ये नितरां महान्त्यपि व्यथां द्वयेषांमपिमेदिनीभृताम्॥

(शिशुपालवध)

इस श्लोकमें "द्वयेषां" यह शब्द निर्लक्षण दोषसे दूषित है, द्वयेषाम् की द्वयानाम् होना चाहिये क्योंकि व्याकरण (लक्षण) शास्त्रमें द्वयेषां न बनकर द्वयानाम् रूप बनता है। अतः द्वयानां सुलक्षण है, और द्वयेषां निर्लक्षण है, औ। भी समझना चाहिये। जैसे–

तनौ ममुस्तन्नकैटभद्विषः, तयो घनास्यागमसंमदः मुदा"

अर्थात्–श्रीकृष्णपरमात्माके हृदयमें नारद ऋषिके आनेकी खुशी (हर्ष) समाई नहीं।

जिनसेनाचार्य–

वसुन्धरा महादेवी पुत्रकल्याणसम्पदा।
तया प्रमोद पूर्णाङ्गी न स्वांगे नन्वमात्तदा॥

अर्थात्–वसुन्धरादेवी अपने पुत्र कल्याणकी सम्पत्तिसे उत्पन्न हुए आनन्दसे फूली नहीं समाई। यह कल्पना आचार्यजीकी है, इससे सिद्ध है जैन काव्योंमें ही महत्व है।

इसके अनन्तर अलंकार और वर्णोंकी विशेषता बतलाते हैं–

यह चित्रालंकार है, इसका लक्षण, बहुत क्रियायें, द्वितियपादमें यमक, अंतिम व्यंजन अवर्ण अर्धमात्रिक हों तथा सर्वतः पाठ समान हों। जैसे–

श्लोक-पारावाररवारापारा क्षमाक्षक्षमाक्षरा।
वामानाममनामावारक्ष मर्द्धर्द्धमक्षर॥

अर्थात हे जिननाथ, समुद्रध्वनिसदृश वाणीश! हे सर्वज्ञ! हे पापनाशक! हे रुद्र! तुम्हारी क्षमा अपार है, अतः मुझको प्रसन्न करो, शोभित करो, रक्षा करो।

यह श्लोक वैराग्य और शांत रससे भरा हुआ है।

श्री मापकविका सर्वतोभद्र इस प्रकार है कि—

"सकारनानासारकास, कायसाददसापका।
रसहवावाहसार, नादधाददवादना॥

इसका भी चित्र बनाया जा सकता है। इसका अर्थ है–कि सोत्साह नाना प्रकारसे ऋतु समूहोंके नाशक। शरीर तथा गति और वाणीके शब्दसे और वाह श्रेष्ठोंके नादसे वाणीकी ध्वनि हो रही है। इसमें कविने शब्दकी विशेषता बतलाई है। परंच इसमें इतनी त्रुटि है कि इसमें क्रियाओंकी विशेषता है। रस भी साधारण है।

पूज्यवर जिनसेनाचार्यने अलंकारचिन्तामणिमें बहुत ही अच्छी तरह दर्शाये जैसे, देखिये–

छत्र बंध ।

शीतलं विदिताथौंघं शीतीभूतं स्तुमोऽनघम् ।
सुविदां परमानन्दं सूदितानङ्ग दुर्मदम् ॥

अर्थात् सर्व पदार्थज्ञ, शीतीभूत, पाप रहित, विद्वानोंको आनन्ददायि कामदेवको नष्ट करनेवाले शीतलनाथ भगवानको नमस्कार करते हैं ।

हारबन्ध ।

चन्द्रातपं च सततप्रभपूतलाभम् ।
भद्रं दया सुखद मंगल धाम जालम् ॥
वन्दामहे वरमनन्तजयान् याजम् ।
त्यां वीरदेव सुरसंचय शास शास्त्रम् ।

अर्थ, स्पष्ट है यहां पर वीर देवकी स्तुति सरस्वती कण्ठाभरण आदिमें नहीं पाय जाता है ।

सर्पबन्ध–

" पल्लवकमहिता "

अर्थात् पल्लव पता किसको प्राप्त हुआ, अथवा जार पुरुषोंसे पूजित की गई ।

इत्यादि नाना प्रकारके बन्ध होते हैं मुरज, गोमूत्रिका, अष्टदल, षोड़शदलपद्म आदि समझना चाहिये, हमारे कहनेका तात्पर्य यह है कि ये बन्ध जैनेतर प्रसिद्ध सरस्वती कण्ठाभरणादिमें नहीं पाये जाते हैं । यह संक्षेपसे बतला दिया गया है, अगर अन्य काव्योंमें हों भी तो इसके जैसे पदलालित्य आदिमें कम हैं । पाठक ! लेख बढ़ जानेके भयसे यह विषय छोड़ कर इसी काव्यका अङ्क समस्यापूर्त्ति है, इस समस्याकी समस्यापूर्त्ति किन कवियोंने अच्छी की है तो हम कहेंगे, कि श्री भगज्जिनसेनाचार्यकी हुई समस्यापूर्त्तिका ज्वलन्त प्रमाण एक पार्श्वाभ्युदयका अवतरण है । इनके मुकाबिलेका कोइ भी कवि इनके सम्प्रदायमें नहीं हुआ है । यह कवित्व शक्तिकी महिमा है कि शृंगारमय काव्यको शान्तरसमय करदेना ।

श्री कविवरकालिदास और कविसिंह श्रीवादीभसिंह–

" क्षत्रचूड़ामणि " नामक काव्यको प्रायः सभी जानते हैं । अतः ध्यान दें कि यह क्या है ? कालिदास–

" प्रजानां विनयाधानाद्रक्षणाद्भरणादपि ।
स पिता पितरस्तासां केवलं जन्महेतवः ॥
रात्रिंदिव विभागेषु यदादिष्टं महीक्षिताम् ।
तत्सिषवे नियोगेन सविकल्प पराङ्मुखः ॥
सवेला वप्रवलयां परिखीकृत सागराम् ।
अनन्यशासनामुर्वीं शशासैकमहीमिव ॥ (रघुवंश)

वादीसिंह–

१–सुखदुःखे प्रजाधीने तदाभूतां प्रजापते ।
प्रजानां जन्मवर्ज्यं हि सर्वत्र पितरौ कृपाः ॥

२–रात्रिंदिवविभागेषु नियतो नियतिं व्यधात् ।
कालातिपातमात्रेण कर्त्तव्यं हि विनश्यति ॥

३–प्रयुद्धेऽस्मिन् भुवं कृत्स्नां रक्षत्येकपुरीमिव ।
राजन्वती भूरासीदन्वर्थं रत्नसूरपि ॥ (क्षत्रचूडामणि)

महानुभाव ! इन श्लोकोंका अर्थ क्रमशः नीचे लिखे प्रमाण समझें ।

१–प्रजाधीशकी प्रजा आधीन होने सुख दुःख प्रजापतिको होते हैं । क्योंकि राजा जन्मको छोड़कर माता पिता होते हैं ।

२–राजाने रात दिनका टाइमटेबिल (समय विभाग) बना लिया, क्योंकि काल व्यर्थ चले जानेसे कर्त्तव्य नष्ट होजाता है ।

३–राजाके प्रबोधित होने पर राजा समग्र पृथ्वीको एक नगरीकी तरह रक्षा करता है । और रत्नसू पृथ्वी रानसहित यथार्थ नामवाली होगई ।

आप उक्त श्लोकोंसे मिलान कर सकते हैं कि वादीसिंह कृत क्षत्रचूडामणिके श्लोकोंमें कितनी सरलता है, और प्रत्येक श्लोकमें नीति वाक्यामृत भर दिया है । " कि कालातिपातमात्रेण कर्त्तव्यं हि विनश्यति " ठीक उर्दू शायरका कथन है कि " गया वक्त हाथ आता नहीं, सदा दौर दौरे लगाता नहीं " इत्यादि नीतिके उपदेशके साथ तत् तत् श्लोकोंमें शांत रसका–वैराग्यका खूब ही वर्णन किया है, धर्मशास्त्रका उपदेश दिया है । तथा पदलालित्य, समुचित पद, हृदयग्राही दृष्टांत, हृदय–रोचकता, अनेक लोकोक्ति, मितोक्ति आदि गुणोंसे मिश्रित यह अद्वितीय काव्य है इसका प्रचार खूब करना चाहिये ।

इसके अतिरिक्त हमें इसका गौरव होना चाहिये कि हमारे यहां ऐसे २ महाकाव्य-रत्न हैं, जिनके सदृश अभी कहीं नहीं पाये जाते, और जिनके श्लोकोंको ही देखकर अच्छे २ पण्डित दांतों तले अंगुली दबाते हैं । जैसे—

" क ख गो घ ङ् च च्छौ जो झा ञ ट ठ ड ढा ण तु ।
था द धान्य प फ बा भा मा था रा ल व शं ष स " ॥

इसका अर्थ अच्छे २ विद्वानोंने नहीं करपाया, इसका सादृश्य हमें कहीं मिलता ही नहीं, और नहीं भी होगा । बत्तीस व्यंजनोंका क्रमशः श्लोक बनाना किसीकी शक्ति होगी । इसमें विद्वान् अनुमान ही लगालें ।

चित्रालंकारके श्लोक दे देना ठीक है। जैसे—

" ककाकुकङ्केकाङ्केकिकोकैककुः ककः।
अकुकौकः काककाक्कुकाकुकुककां ककुः॥

तात्पर्य मात्र—यहां पर कवि समुद्रका स्वाभाविक वर्णन करते हैं कि—जलचर, मयूर, चक्रवाक, तथा जलके कार्कोंका रक्षक, और विष्णुका निवास स्थानभूत समुद्र है।

" ततोऽसितातु तेऽतीतः तेतृतोती तितोतृतः।
ततोऽतातिं ततौ तौते तत तातें ततो ततः॥"

भाव मात्र—विशिष्ट पूजाके योग्य! स्वकीय ज्ञानवृद्धिके हेतु, ज्ञानावरणादिकोंके नाशक! अपरिग्रहसे महान्! ज्ञानवृद्धि प्राप्त! हे त्रैलोक्येश्वर तुम्हारा ज्ञान विस्तीर्ण है। इस प्रकार चित्रके एकाक्षरी, दो अक्षरी भेद होते हैं।

अब मैं आप लोगोंका समय ज्यादा न लेकर नैषधीय चरित्र, और धर्मशर्माभ्युदय-से मिलान करके लेख समाप्त करूंगा।

धर्मशर्माभ्युदय महाकाव्यके कर्त्ता श्री हरिश्चन्द्र कवि है। बाणकविने स्वरचित हर्ष चरितमें इनको प्रारम्भमें स्मरण किया किया है।

" पद्यबन्धोज्ज्वलोहारी कृतवर्णक्रमस्थिति।
भट्टारहरिचन्द्रस्य गद्यबन्धो नृपायते॥

इस प्रकार निष्पक्षपाती अजैन कवियोंने भी इनकी मुक्तकण्ठसे प्रशंसा की है इनकी अनोखी सूझ, कल्पना चातुर्य बहुत गंभीर है, पदलालित्य और अर्थगौरव कूट २ कर भर दिया है। यथा—राजा महासेनकी विद्या प्रशंसाको कवि वर्णन करते हैं।

" ततः श्रुतान्भोनिधिपारदृश्वनः विशङ्कमानेवपराभवं तदा।
विशेष पाठाय विधृत्य पुस्तकं करात्र, मुञ्चत्यधुनापि भारती॥

अर्थात—शास्त्र समुद्रके परगामी राजासे परामवकी शंका करती हुई भारती—(सरस्वती) विशेषपाठ, याद करनेके लिये अब भी पुस्तकको नहीं छोड़ती है।

भाव—भारतीके हस्तमें पुस्तक है, इसीपर कविने उत्प्रेक्षा की है कि राजा विद्या पारंगत है, अतः मुझे शास्त्रार्थमें न हरादे इसलिये पुस्तक धारण की है। अथवा, राजा चौदह विद्याओंमें अत्यन्त निपुण है, इससे कविने यह भी द्योतन किया है।

श्री हर्ष कवि—

ये कवि श्रीहरि पण्डितके सुपुत्र है, और इनकी माताका नाम मामल्लदेवी है।

और अभी (इस समय) इनका कोई समय निश्चित नहीं हुआ है। परन्तु खष्ट सं० ११७४से कुछ पहिले इस काव्यका निर्माण हुआ है, क्योंकि इससे जाना जाता है कि बनारसमें ९७० खष्ट सं० में राजा गोविंदचन्द्र राज्य करते थे पश्चात् विजयचंद्र तत्पश्चात् जयन्तचंद्र राजा हुये; और इनकी सभामें इन्होंने प्रतिष्ठा पाई है। तथा इनकी प्रेरणासे हर्ष कविने यह नैषधीय चरित्र बनाया है। अब जयन्तचंद्रके कालसे इनका भी वही काल कुछ आगे पीछे हों।

हर्षकवि राजा नलकी विद्या बुद्धि वर्णन करते हैं—

" अधीति बोधाचरणप्रचारणैः दशाश्चतस्रः प्रणयन्नुपाधिभिः।
चतुर्दशत्वं कृतवान्कुतः स्वयं न वेद्मि विद्यासु चतुर्दशत्वम् ॥

अर्थात्—राजा नलने १४ विद्याओंमें अध्ययन, अर्थज्ञान, अनुष्ठान, अध्यापन, इस प्रकार चार अवस्था करते हुये चतुर्दशत्व प्राप्त किस तरह किया यह मैं नहीं जानता, यह श्लोक सामान्यार्थ है। हम यहां पूछते हैं १४ विद्याओंमें चतुर्थशत्व क्या प्रश्न किया विद्या तो १४ होती ही हैं, उससे क्या अधिक, यह कविका पिष्टपेषण है। और यदि चतस्रावस्थात्वेन सिद्ध करोगे तो भी ठीक नहीं क्योंकि चतुर्दशत्वका वह स्वयं ज्ञाता है दूसरी बात ये है कि क्षत्रियोंको अध्यायनका अधिकार नहीं है यह मनुस्मृति वचन है, लेकिन क्षत्रिय राजा नल अध्यायन करता यह बात शास्त्र विरुद्ध है। अच्छा और पदलालित्य, उत्प्रेक्षा आदि सज्जन जान सकते हैं कि किसमें विशेषता है।

कवि हरिश्चंद्र—

" कृतौ न चेत्तेन विरञ्चिना सुधानिधानकुम्भौ सुदृशः पयोधरौ।
तदङ्गलग्नोऽपि तदा निगद्यतां स्मरः परासुः कथमाशु जीवितः ॥

अर्थात्—ब्रह्माने सुनयनीके स्तनोंको अमृत रखनेके दो घड़े बनाये हैं, यदि न बनाये होते तो उसके अङ्गमें लगा हुआ मृतकामदेव किस तरह जीवित होता, यह बतलाइये। तात्पर्य यह है कि महादेवने कामदेवको भस्म कर दिया था, अतः मर गया और मरा हुआ अमृतसे जीवित हो जाता है, वही उत्प्रेक्षा की है कि रानीके स्तन अमृत कलश हैं, और उससे कामदेव जीवित हो गया है।

श्री हर्ष—

अपि तद्वपुषि प्रसर्पतोऽगमिते कान्तिझरैरगाधताम्।
स्मरयौवनयोः खलु द्वयो प्लवकुम्भौ भवतः कुचावुभौ ॥

अर्थात्—रानी दमयंतीके कुच (स्तन) कांतिझरसे अगाधको प्राप्त दमयंतीके शरीरमें स्मर और यौवनके तैरनेके लिये दो घड़े हैं।

महानुभाव ! विचारें कि कैसी भद्दी कल्पना है कि तैरनेके घड़े, और कविने अमृतकलशकी उपमादी है। तथा मृतको अमृत रस देकर सदा जीवित ही कर दिया है।

कवि हरिश्चन्द्र—

" कपोलहेतोः खलु लोलचक्षषो विधिः व्यधात् पूर्णसुधाकरं द्विधा ।
विलोकतामस्य तथा हि लांच्छनच्छलेन पश्चात् कृतसीवनव्रणम् ॥
(धर्मशर्मा०)

अर्थात्–ब्रह्माने राज्ञीके कपोलमंडल बनानेके लिये पूर्ण चंद्रमाके दो टुकड़े कर दिये, यदि नहीं तो देखिये, कि कलङ्कके व्यानसे टुकड़े कर पीछे सीवनका व्रण ही मालूम होता है, चंद्रकलङ्कपर उत्प्रेक्षा की है।

हर्ष कवि—

हृतसारमिवेन्दुमण्डलं दमयन्ती वदनाभवेधसा ।
कृतमध्यविलं विलोक्यते धृत गम्भीर खतौ खनीलिय ॥ (नैषध)

अर्थात्–ब्रह्माने दमयन्तीका मुख बनानेके लिये हृतसारकी तरह चंद्रमा, गहरे गड्ढे व आकाशकी नीलिमासे युक्त, अथवा मध्यमें किये विलकी तरह दिखलाई देता है। अर्थात्–दमयंतीका मुख स्वच्छ है।

कवि हरिश्चन्द्र–ॐ शब्दकी कल्पना–

" इमामनालोचनगोचरां विधिर्विधाय सृष्टेः कलशार्पणोत्सुकः ।
लिलेख वक्त्रे तिलाङ्कमध्ययोर्भ्रुवोर्भिषादोमिति मंगलाक्षरम् ॥
(धर्मशर्मा)

अर्थात्–सृष्टिकी रचनाके बाद कलश अर्पण करनेमें उत्सुक ब्रह्माने अदृष्टिगोचर राज्ञीको बनाकर रानीके मुख गत तिलक चिह्नके मध्यमें भृकुटीके बहानेसे ॐ यह मङ्गलाक्षर लिख दिया ! अर्थात् भृकुटीका आकार प्रायः ॐ सरीखा होता है। प्रकारान्तरसे–

उदीरिते श्रीरतिकीर्त्तिकान्तिभिः श्रयाम एतानिति मौनवान्विधिः ।
लिलेख तस्यां तिलकाङ्कमध्ययोः भ्रुवोर्भिषादिति संगतोत्तरम् ॥

अर्थात्–लक्ष्मी, रति, कीर्त्ति, कांति, आदि गुणोंने ब्रह्माके पास जाकर अर्जी (Application)की, इसको सुनकर मौनी ब्रह्माने तिलकाङ्क मध्यमें भृकुटीके बहानेसे ॐ यह संगतोत्तर लिख दिया। अर्थात ॐ स्वीकारार्थक है। पाठक ! इत्यादि उपर्युक्त दृष्टांतोंसे जान सकते हैं कि, पदलालित्य, ओज, सौन्दर्य जैन काव्योंमें विशेष है। इस श्लोककी कल्पना विचित्र है। ऐसी कल्पना अच्छे २ कवियोंमें नहीं की है ये